प्रस्तावना.

मेघदूतनां अनुकरणो

मनुष्यनो स्वभाव गतानुगतिक छे. जे कार्यथी माणसनी कीर्ति गवाय छे, ते कार्यनुं अनुकरण करवा अन्य माणसो आकर्षाय छे. जेम व्यवहारमां कोइ पण माणस जे व्यवसायथी अर्थलाभ, कीर्तिलाभ प्राप्त करी शके छे ते ज व्यवसायमां लक्ष्मीनिवास छे एम समजी बीजा माणसो ते रस्ते दोराय छे. परंतु अनुकरण ते अनुकरण ज रहे छे. पूरी प्रतिभा विना मूळ स्थान प्राप्त थतु नथी. साहित्यमां पण आ प्रमाणे ज बन्यु छे. जे कविनी जे कृतिथी कीर्तिकथा फेलाइ, ते कृतिनुं अनुकरण अनेक कविओए भिन्न भिन्न रीते कर्युं छे. परंतु अत्यार सूधीमां एवो एक पण कवि नथी जन्म्यो के जे मूळकर्तानी समान के तेथी वधारे कीर्ति खाटी गयो होय. जेम जैन कविओमां श्रीसिद्धसेन दिवाकरना कल्याणमंदिरथी अने श्रीमानतुंगसूरिना भक्तामरस्तोत्रथी अनेक विद्वानो दिग्मूढ बनी तेमनुं अनुकरण करी कइक कविओए ते स्तोत्रनुं आदि या अंतनुं पाद लेइ पादपूर्तिओ रूपे अनेक स्तोत्रो रच्यां छे. तो पण ते स्तोत्रोनी प्रसन्नता, गंभीरता, कर्णप्रियता के सरलता न ज आवी शक्यां. आ ज प्रमाणे सिंदूरप्रकरना अनुकरण रूपे अनेक कविओए तेवां प्रकरोने जन्म आप्यो पण ते सरलता, ते भाव, ते प्रसाद न ज लावी शक्या. आ ज प्रमाणे जैनेतर कविओमां जयदेवना गीतगोविंदनी मोहनीमां मूढ बनी घणा कविओए विविध गीतो बनाव्यां, कवि अमरुना शतक पाछळ तणाइ अनेक कविओए अनेक शतको बनाव्यां. परंतु मूळकर्ताओना स्थाननी योग्यता तेओ न बतावी शक्या. आ ज प्रमाणे कविकुलशिरोमणी कालिदासना मेघदूतना रसना, सौंदर्यना अनेक भोगीओ अनुकरण करी अनेक दूतकाव्योने पोतानी पाछळ मूकता गया छे.

कालिदासना **मेघदूतना** जेवां संदेशकाव्यो संस्कृतसाहित्यसृष्टिमां अनेक कविओनी कृतिरूपे *भिन्न भिन्न नामे आविर्भूत* थयां छे. आधुनिक भाषाओने बाद करी केवळ संस्कृत भाषामां ज आवां काव्योनी संख्या गणवा जइए तो पचीसथी पण वधारे मळी आवे छे. परंतु ते सर्वे दूतकाव्योमां **मेघदूतना** जेवी छटा आवी शकी नथी. अने तेथी ते सर्वे काव्यो **मेघदूतना** जेवी कीर्ति, स्थान के दीर्घायु मेळवी शक्यां नथी. **मेघदूतना** भक्तोना जेटली संख्या कोइ पण दूतकाव्यनी मळती नथी. आ **मेघदूतना** अनुकरणमां सौथी प्रथम अनुकरण करनार जैनो छे. आम अनुकरणरूपे संस्कृत साहित्यमां जैन कविओद्वारा केटलांए संदेशकाव्यो जन्म पाम्यां छे. तेनुं उपलक दृष्टिए पण अवलोकन करवुं आवश्यक छे.

संदेशकाव्यकारतरीके जैन कविओ.

(१) पार्श्वाभ्युदय–जिनसेनाचार्यकृत (२) **पवनदूत**–वादिचंद्रकृत (३) **जैनमेघदूत**–मेरुतुंगाचार्यकृत (४) **चंद्रदूत**–जंबूकविकृत (५) **नेमिदूत**–सांगणसुतविक्रमकृत (६) **मनोदूत**–नामविनानुं (७) **मेघदूत**–मंत्री विक्रमकृत (८) **शीलदूत**–चारित्रसुंदरगणिकृत (९) **चेतोदूत**–नामविनानुं (१०) **मेघदूतसमस्यालेख**–मेघविजयोपाध्यायकृत (११) **इंदुदूत**–विनयविजयगणिकृत. आथी पण अधिक होवानो संभव छे. परंतु जाणवामां आव्यां नथी. आमांनां घणांखरां काव्यो प्रकट थयां छे तेमांनां जे मने मळी आव्यां छे तेमनो थोडो थोडो परिचय आपवो उचित धार्यो छे.

पार्श्वाभ्युदय.

आ बधां अनुकरणोमां प्रथम **पार्श्वाभ्युदय** छे. आ ३६४ मन्दाक्रान्ता श्लोकोनुं एक खंडकाव्य छे. **जिनसेनाचार्ये**, कालिदासना **मेघदूतना** जेटला श्लोको छे ते सर्वे एक अथवा बे चरणो लइने पोताना **पार्श्वाभ्युदयना** दरेक श्लोकमां *ग्रथित कर्या छे*. आम तूटी कालिदासना मेघदूतनी समस्यापूर्ति दरेक कविए तेनुं अंतिम चरण लइने

पडी छे, पण आ काव्यमां तो पहेलुं मेघदूतने स्थान मळ्युं छे; एटली आ काव्यनी विशेषता छे. आ काव्यनी केटलाक वाचको प्रशंसा करे छे त्यारे केटलाक वाचको तेनी सरळता माटे मान दर्शावे छे. स्व. विल्साभाई पोताना मेघदूतना अनुवादनी प्रस्तावनामां लखे छे के—"पार्श्वाभ्युदयनी रचना चढ़क क्लिष्ट अने बहुधा जैन लेखकोना जेवा ज गुणवाळी छे.... ......कालिदासना मेघदूत करतां पण पोतानुं काव्य चढ़क वधारे गुणवाळुं छे, एवुं मिथ्याभिमान जिनसेनने हतुं एम जणाय छे. ए काव्यनी वाणी कर्कश अने रस विनानी छे........" त्यारे प्रो. के. बी. पाठक "कुमारिलभट्ट अने भर्तृहरि" नामना पोताना निबंधमां जिनसेनस्वामीना विषयमां लखे छे के—"जिनसेन अमोघवर्ष (पहेला)ना राज्यकाळमां थया हता एम पोते पोताना पार्श्वाभ्युदयमां लखे छे. पार्श्वाभ्युदय संस्कृत साहित्यमां एक कौतुकजनक उत्कृष्ट रचना छे. आ ते समयना साहित्यस्वादनुं उत्पादक अने दर्पणरूप अनुपम काव्य छे. जो के सर्वसाधारणनी सम्मतिथी भारतीय कविओए कालिदासने पहेलुं स्थान आप्युं छे, तो पण जिनसेन मेघदूतना कर्तानी अपेक्षा अधिकतर योग्य मानी लेवाने अधिकारी छे" प्रथम अभिप्राय जातीय अभिमाननो पडघो छे त्यारे बीजो अभिप्राय न्यायथी तुलनानुं परिणाम छे. तेमां योग्यता केवी छे ते नीचेना उदाहरणरूपे आपेला श्लोको उपरथी पाठके वांची लेवी जोइए—

चित्रं तस्मै यदुपगमनानन्तरं विप्रयुक्ता
त्वत्तः साध्वी सुरतरसिका सा सदा जीवति स्म ।
मन्ये रक्षस्यसुनिरसनाद्धातुमापद्गताना-
"माशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानाम्" ॥ २५ ॥

× × × ×

तीव्रावस्थं तपति मदने पुष्पबाणैर्मदङ्गं
तस्येऽनन्तं दहति च मुहुः पुष्पभेदैः प्रयुङ्क्ते ।

[illegible]
"[illegible]" ॥ २ ॥
सर्ग ४.

× × × × ×

"तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौले–"
दृष्टं भर्तुस्त्रिभुवनगुरोरर्हतः सम्यगर्चेः ।
"शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः"
पापापाये प्रथममुदितं कारणं भक्तिरेव ॥ ६५ ॥

× × × × ×

इति विरचितमेतत्काव्यमावेष्ट्य मेघं
बहुगुणमपदोषं कालिदासस्य काव्यम् ।
मलिनितपरकाव्यं तिष्ठतादा शशाङ्कं
भुवनमवतु देवः सर्वदाऽमोघवर्षः ॥

जिनसेने आ काव्यमां पार्श्वनाथना चरित्रने गुंथ्युं छे. **जिनसेने** प्रथम जैनहरिवंशपुराण शाके ७०५ मां लख्युं अने आठमा सैकाना उत्तरार्धमां पार्श्वाभ्युदय लख्युं एम मानवामां आवे छे.

पवनदूत

आ काव्यना कर्ता **श्रीवादिचंद्र** छे. आमना विषे वधारे जाणवामां आव्युं नथी. आ काव्य १०१ श्लोक पर्यंत छे अने निर्णयसागरनी ग्रंथमाळामां प्रगट थयु छे. (काव्यमाळा गु. १३). जैन ग्रंथावलीना अवलोकनथी जणाय छे के, श्वेतांबरसंप्रदायमां ए नामना कोइ साधु थया नथी पण तेमां दिगंबरसंप्रदायमां **ज्ञानसूर्योदय** नामक नाटकना कर्ता तरीकेनी नोंध छे. (पृ० ३३६). कदाचित् आ काव्यनी रचना ते सूरिनी होय. आ काव्यमां जो के स्पष्ट **कालिदासना मेघदूतनी** छाया छे, परंतु आ काव्य मेघदूतनी समस्यापूर्त्ति नहीं होतां स्वतंत्र कृति छे. अने तेनी रचना अति प्रासादिक छे. जिज्ञासुए निर्णयसागर काव्यमालागुच्छक १३ मो वांचवो जोइए.

मेघदूत

आ काव्य खंभातनिवासी सांगणना पुत्र विक्रम कविए रच्युं छे. आ कविना जीवनविषे वधारे जाणवामां आव्युं नथी. परंतु एटलुं तो निश्चय पणे कही शकाय छे के, कवि ऋषभदास, जेमणे गुर्जर भाषामां अनुपम रासाओ रची जेणे कविओमां श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर्युं छे, तेमना आ कवि भाइ थाय छे. बन्ने कविओना काव्योनी प्रशस्तिउपरथी उक्त बाबत स्पष्ट जाणी शकाय छे. आ कविनी आ एक नेमिदूतसिवाय अन्य कृति होय एम हजु जणायुं नथी.

कविए मेघदूतना दरेक काव्यनुं अंतिम चरण लइ, अन्य त्रण चरणो पोते रची आ काव्यनी रचना करी छे. आ काव्यना संबंधमां रा. चिमनभाइ पोताना मेघदूतना अनुवादनी प्रस्तावनामां लखे छे के–"आनी भाषा, विचार अने पदरचना वगेरे सारां छे अने काव्यना गुणोमां पार्श्वाभ्युदय करता ए वधुक चढियातुं छे." आ कविए काव्यमां अप्रासंगिक बिलकुल कर्युं नथी. शरुआतना श्लोकथी वियोगी राजीमती पोतानुं दर्द मेघद्वारा नेमिनाथने कहावे छे वस्तु बीज एटलुं वधुं प्रख्यात छे के, तेना वर्णनमां कवि उतर्या नथी परंतु कविए काव्यमां विरही जनोनी यथार्थ दुःखित अवस्थानुं जे वर्णन करेलुं छे ते वांचवाथी वाचकने तुरत समजाशे के कवि सर्वानुभवी छे. आ १२५ श्लोकनुं दूतकाव्य नामक ग्रन्थ विरहिणी नायिकाना उपालंभोथी भरेलुं छे. पाठक श्लोके श्लोके राजीमतिनी दुःखित अवस्थामां तन्मय बनी ते दुःख पोते अनुभवतो जणाय छे. अहीं ज कविनी निपुणता छे के वाचक पोतानी स्थिति भूली काव्यनी स्थितिमां परिणत थाय. कविनी लालित्यपदपूर्ण कृतिना केटलाक श्लोको उदाहरणरूपे आपवा उचित समजीए छीए,

प्राणिप्राणप्रणयहृदयो बन्धुवर्गं समग्रं
हित्वा भोगान् सहपरिजनैरुग्रसेनात्मजां च ।

१–जुओ जैन श्वेताम्बर कोन्फरन्स हेरल्डना ऐतिहासिक अंकमां रा. मोहनलाल द. देसाइनो "श्रावक कवि ऋषभदास" नामनो लेख.

२– जुओ आ पुस्तकनुं पृ. ८

श्रीमन्नेमेश्चरितविशदं साङ्गणस्याङ्गजन्मा
चक्रे काव्यं बुधजनमनःप्रीतये विक्रमाख्यः ॥ १२६ ॥
नेमिदूतं समाप्तम् ॥

शीलदूत

उपरना काव्यकारनी पेठे आ काव्यना कर्तार पण मेघदूतनुं अंतिम चरण लेइ, बाकीनां त्रण चरणो पोते रचेलां छे. आ संदेशकाव्यनी वस्तुकथाथी जैन समाजमां भाग्ये ज कोइ अपरिचित हशे. मनुष्यो जे वृत्तिना दास बनीने पोतानुं जीवन निरर्थक गुमावी बेसे छे, अनंत भूतकाळथी लइ अनंत भविष्यकाळना जगतने दृष्टिसमक्ष करी अवलोकन करवामां आवे तो जणाशे के ए पशुवृत्तिनो पराजय करनारा मनुष्यो बहु अल्प संख्यामां मळी आवशे. ते वृत्ति–विषयवृत्ति–उपर जय मेळवनार प्रख्यात स्थूलभद्रनुं विशद चरित्र आलेखवामां आव्युं छे.

स्थूलभद्र जगतना व्यवहारथी विमुख थइ, शिशुवयथी कोशानी साथे विषयविलासमां केटलुंय जीवन व्यतीत थया बाद, अचानक राज्यप्रपंचोमां पोताना पितानुं मृत्यु थयुं एम सांभळे छे, जे कुटुंब अने जनतामां अळखामणो थई पडेल अने जेना उच्च जीवन माटे कोइने आशा न हती; ते स्थूलभद्रना हृदयमां एकाएक जगतनी प्रापंचिक जंजाळोनां प्रतिबिंबो पडे छे, अने तेथी जीवननी दिशाने बदली नाखवानुं आंदोलन उत्पन्न थाय छे. जे वीर जेटला वेगथी विषयरसमां रच्यो पच्यो रहेतो हतो, ते वीर तेटला ज वेगथी तेने तिलांजली आपी आत्माना कल्याणार्थे भद्रबाहुस्वामी पासे जाय छे. त्यां पोताना जीवननुं व्हेण बदली नाखी, पूर्वपरिचित कोशाने विशुद्ध मार्गे चडाववा माटे पुनः त्यां पधारे छे. कोशा स्थूलभद्रने आवो शुष्कमार्ग ग्रहण करवामाटे ठपको आपे छे, अने आवा कठोर व्रतनो त्याग करी पुनः पूर्व दशामां आववा माटे विनंति करे छे. जवाबमां स्थूलभद्र जणावे छे– भोळी आपणा आत्माना अविकासनी ए आपणी दशा हती. जो शाश्वत सुखनी वांछना होय तो आवां अल्पसमयी

[illegible]
[illegible] ॥ १ ॥
[illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥ २ ॥

× × × × ×

[illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥ ७ ॥

× × × × ×

रम्या हर्म्ये क तव नगरी दुर्गशृङ्गः क चाद्रिः
[illegible] तव मृदु वपुः क तव दुःखचर्येयम् ।
[illegible]
[illegible] ॥ ११ ॥

× × × × ×

प्राहृद्‌मासान्तं प्रियतमगता दुर्दशा दुःसहेयं
प्रायोऽन्योन्यं रतिकरमितः सांप्रतं सहनाम ।
भोगानेकोत्सवसुखमुपानिच्छया मन्दिरे स्वे
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥ ११८ ॥
गत्वा शीघ्रं स्वपुरमतुलं प्राप्य राज्यं त्रिलोक्याः
सत्कीर्तिं शुभ्रां वितनु सुहृदां पुरवासां च पित्रोः ।
राजीमत्या सह नवघनस्येव वर्षासु भूयो
मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥ १२३ ॥

× × × × ×

तद्दुःखार्थं प्रवर कवितुः कालिदासस्य काव्या-
दन्त्यं पादं सुपदरचितान्मेघदूताद्गृहीत्वा ।

श्रीमन्नेमेश्चरितविशदं साङ्गणस्याङ्गजन्मा
चक्रे काव्यं बुधजनमनःप्रीतये विक्रमाख्यः ॥ १२६ ॥

नेमिदूतं समाप्तम् ॥

उपरना काव्यकारनी पेठे आ काव्यना कर्ताए पण मेघदूतनुं अंतिम चरण लेइ, बाकीनां त्रण चरणो पोते रचेलां छे. आ संदेशकाव्यनी वस्तुकथाथी जैन समाजमां भाग्ये ज कोइ अपरिचित हशे. मनुष्यो जे वृत्तिना दास बनीने पोतानुं जीवन निरर्थक गुमावी बेसे छे, अनंत भूतकाळथी लइ अनंत भविष्यकाळना जगतने दृष्टिसमक्ष करी अवलोकन करवामां आवे तो जणाशे के ए पशुवृत्तिनो पराजय करनारा मनुष्यो बहु अल्प संख्यामां मळी आवशे. ते वृत्ति–विषयवृत्ति–उपर जय मेळवनार प्रख्यात स्थूलभद्रनुं विशद चरित्र आलेखवामां आव्युं छे.

शीलदूत

स्थूलभद्र जगतना व्यवहारथी विमुख थइ, शिशुवयथी कोशानी साथे विषयविलासमां केटलुंय जीवन व्यतीत थया बाद, अचानक राज्यप्रपंचोमां पोताना पितानुं मृत्यु थयुं एम सांभळे छे, जे कुटुंब अने जनतामां अळखामणो थई पडेल अने जेना उच्च जीवन माटे कोइने आशा न हती; ते स्थूलभद्रना हृदयमां एकाएक जगतनी प्रापंचिक जंजाळोनां प्रतिबिंबो पडे छे, अने तेथी जीवननी दिशाने बदली नाखवानुं आंदोलन उत्पन्न थाय छे. जे वीर जेटला वेगथी विषयरसमां रच्यो पच्यो रहेतो हतो, ते वीर तेटला ज वेगथी तेने तिलांजली आपी आत्माना कल्याणार्थे भद्रबाहुस्वामी पासे जाय छे. त्यां पोताना जीवननुं व्हेण बदली नाखी, पूर्वपरिचित कोशाने विशुद्ध मार्गे चडाववा माटे पुनः त्यां पधारे छे. कोशा स्थूलभद्रने आवो शुष्कमार्ग ग्रहण करवामाटे ठपको आपे छे, अने आवा कठोर व्रतनो त्याग करी पुनः पूर्व दशामां आववा माटे विनंति करे छे. जवाबमां स्थूलभद्र जणावे छे– भोळी आपणा आत्माना अविकासनी ए आपणी दशा हती. जो शाश्वत सुखनी वांछना होय तो आवां अल्पसमयी

श्रीमन्नेमेश्चरितविशदं साङ्गणस्याङ्गजन्मा
चक्रे काव्यं बुधजनमनःप्रीतये विक्रमाख्यः ॥ १२६ ॥

नेमिदूतं समाप्तम् ॥

उपरना काव्यकारनी पेठे आ काव्यना कर्ताए पण मेघदूतनुं अंतिम चरण लेइ, बाकीनां त्रण चरणो पोते रचेलां छे. आ संदेशकाव्यनी वस्तुकथाथी जैन समाजमां भाग्ये ज कोइ अपरिचित हशे. मनुष्यो

शीलदूत

जे वृत्तिना दास बनीने पोतानुं जीवन निरर्थक गुमावी बेसे छे, अनंत भूतकाळथी लइ अनंत भविष्यकाळना जगतने दृष्टिसमक्ष करी अवलोकन करवामां आवे तो जणाशे के ए पशुवृत्तिनो पराजय करनारा मनुष्यो बहु अल्प संख्यामां मळी आवशे. ते वृत्ति–विषयवृत्ति–उपर जय मेळवनार प्रख्यात स्थूलभद्रनुं विशद चरित्र आलेखवामां आव्युं छे.

स्थूलभद्र जगतना व्यवहारथी विमुख थइ, शिशुवयथी कोशानी साथे विषयविलासमां केटलुंय जीवन व्यतीत थया बाद, अचानक राज्यप्रपंचोमां पोताना पितानु मृत्यु थयुं एम सांभळे छे, जे कुटुंब अने जनतामां भलामणो थई पडेल अने जेना उग्र जीवन माटे कोइने आशा न हती; ते स्थूलभद्रना हृदयमां एकाएक जगतनी प्रापंचिक जंजाळोनां प्रतिबिंबो पडे छे, अने तेथी जीवननी दिशाने बदली नाखवानुं आंदोलन उत्पन्न थाय छे. जे वीर जेटला वेगथी विषयरसमां रच्यो पच्यो रहेतो हतो, ते वीर तेटला ज वेगथी तेने तिलांजली आपी आत्माना कल्याणार्थे भद्रबाहुस्वामी पासे जाय छे. त्यां पोताना जीवननुं व्हेण बदली नाखी, पूर्वपरिचित कोशाने विशुद्ध मार्गे चडाववा माटे पुनः त्यां पधारे छे. कोशा स्थूलभद्रने भावी शुष्कमार्ग ग्रहण करवामाटे ठपको आपे छे, अने आवा कठोर व्रतनो त्याग करी पुनः पूर्व दशामां आववा माटे विनंति करे छे. जवाबमां स्थूलभद्र जणावे छे– भोळी आपणा आत्माना अधिकारनी ए आपणी दशा हती. जो शाश्वत सुखनी वांछना होय तो आवो अल्पसमनी

सुखोने छोडी देवां जोइए. कोशाने पोतानी अज्ञानतानुं भान थाय छे अने स्थूलभद्रना मार्गनुं अवलंबन करे छे. कविए काव्यनी शरुआत साधुदशामां स्थूलभद्र कोशाने घेर आवे छे, त्यांथी करी छे. पछी नायकनायिकानो परस्पर संवाद चितरी काव्यनी पूर्णाहुती कोशा स्थूलभद्रना मार्गने अनुसरे छे, त्या थाय छे.

काव्यकार चारित्रसुंदर गणी तेमनी केटलीक कृतिओथी जैन-समाजमां सारी रीते परिचित छे. तेमनी कृतिओ पैकी श्रीकुमारपाल महाकाव्य, श्रीमहीपालचरित्र अने आचारोपदेश आदि सुप्रसिद्ध छे. तेमना विषे विशेष लखवु ते विषयांतर गणाय. आ स्थळे वाचकोना विनोदनेमाटे शीलदूतना केटलाक श्लोको आपवा ठीक समजुं छुं.

भुक्त्वा भोगान् सुभगतिलकः कोशया सार्द्धमिद्धान्
धन्यो मान्यो निरिलविदुषां भद्रया स्थूलभद्रः ।
चक्रे श्रुत्वा जनकनिधनं जातसंवेगरङ्गः
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥ १ ॥

चित्ते मत्वा विषयनिचयं सत्वरं गत्वरं वै
गच्छन्नेषोऽध्वनि घनजिनध्यानसंलीनचित्तः ।
शान्तं कान्तं रसमिव गिरौ श्रीगुरुं भद्रबाहुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥ २ ॥

कामान्धोऽहं तदिह बहुधा कर्ममोहादकार्षम्
जानात्यन्यो न हि जिनपतेर्यद्विपाकं मुनीश ! ।
यावज्जैनी वचनरचनां या न निन्दन्ति तावत्
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाऽचेतनेषु ॥ ५ ॥

× × × × ×

स्वामिन्नङ्गीकुरु परिचितं स्वाधिकारं पुनर्मां
भोगान् भुङ्क्ष्व प्रिय ! सह मया माधुरीं विहाय ।
दोलाकेलि × रमन्ते कौतुकात् काननान्तः
... प्रवर कमले भवतो राजहंसाः सहायाः ॥ ११ ॥

...र्यं परं गुरु × × ×

दीनं दीनं सुभग! विरहात् ते धुताऽऽहारनीरं
पश्येदं मे वपुरपचितिं याति नान्यैः प्रयोगैः।
जाने नाहं बहु निगदितुं त्वद्वियोगार्तिजातं
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः॥ ३१॥

× × × × ×

नीरागं मे समजनि मनो ज्ञाततत्त्वस्वरूप
तेनेदानीं न विषयरसो बाधते कुत्रचिन्माम्।
पश्याम्येनामपि घनसमां चित्रशालां स्वदृष्टं-
र्यामभ्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः॥ ८६॥

× × × × ×

अज्ञानं मे सपदि गलितं मोहमूर्च्छाऽप्यनेशा-
ज्जातं चित्तं सुतनु! मम तन्निर्विकारं क्षणेन।
रवस्ता मृत्योरिव हि जरसा ग्रस्यमानं तनुं त्वां
मन्ये जातां तुहिनमथितां पद्मिनीं वाऽन्यरूपाम्॥९०॥

× × × × ×

भद्रे! भद्रं भवतु सततं ते जिनेन्द्रप्रसादाद्
नन्तुं पादानथ निजगुरोरेष यास्यामि शस्यान्।
ध्यायन्त्यै श्रीजिनपतिपदं शीलरत्नेन शश्वद्
मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः॥ १२३॥

× × × × ×

कोशाऽपि श्रीजिनमतरता शीलमाराध्य सम्यक्
पत्युः स्नेहादिव दिविषदां धाम सा स्राग् जगाम।
आपद् व्यापद्दहितमतुलं तत्र सा तं विशेषा-
दत्राऽमुत्र प्रदिशति सुखं प्राणिनां जैनधर्मः॥ १२९॥

× × × × ×

द्रङ्गे रङ्गे रतिकलतरे स्तम्भतीर्थाऽभिधाने
वर्षे दर्पोज्वलधिभुजगाऽम्भोधिचन्द्रप्रमाणे।

चक्रे काव्यं वरमिह मया स्तम्भनेशप्रसादात्
सद्भिः शोध्यं परहितपरैरस्तदोषैरसादात् ॥ १४१ ॥
॥ शीलदूताभिधानं समस्यामयं काव्यं समाप्तम् ॥

आ सिवाय इंदुदूत, चेतोदूत अने मेघदूतसमस्यालेख आदि संदेश काव्योनो परिचयना जिज्ञासुओए विज्ञप्तित्रिवेणी जोवी जोइए. (प्रस्तावना पृ० ६ थी २७) नाहक अहीं आपी पिष्टपेषण करवुं उचित समजतो नथी.

मेघदूतना जैनेतर अनुकरणो

आ प्रमाणे जैनेतरोए पण विविध दृष्टिए कालिदासना मेघदूतनुं अनुकरण कर्युं छे. तेओमां पण एके एवुं संदेश काव्य अद्यापि मळ्युं नथी जे कालिदासना मेघदूतनी स्पर्धामां टकी शके. अत्यार सुधीमां जे मळी आव्यां छे तेमनो मात्र नामनिर्देश ज करवो बस समजुं छुं.—(१) पवनदूत–धोइककृत (२) हंससंदेश–वेदांतदेशीकविकृत (३) कोकिलसंदेश–उद्दंडशास्त्रीकृत (४) शुकसंदेश –लक्ष्मीदासकृत (५) उद्धवदूत–माधवकवीन्द्र भट्टाचार्यकृत (६) मनोदूत–तैलंगव्रजनाथकृत (७) रथांगदूत–नाम नथी (८) पदांकदूत–कृष्णसार्वभौमकृत (९) हंसदूत–रूपगोस्वामिकृत (१०) उद्धवसंदेश–नाम नथी. आ बधांना संबंधमां स्व. किलाभाइ जणावे छे के, वेदान्तदेशीकविकृत हंससंदेश घणुं उत्तम प्रकारनुं दूतकाव्य छे. अने अत्यंत रमणीय होवाथी कालिदासना मेघदूतकरतां पण चढे तेवुं छे, एम अभिनवभट्ट बाण कृष्णमाचार्य मेघसंदेशनी प्रस्तावनामां लखे छे. आ काव्य शोध करतां पण मने मळी आव्युं नथी. एटले ते उपर कीधुं तेमां केटलुं सत्य छे, ते कही शकातुं नथी. परंतु मेघदूतना करतां ए काव्य जो चढे एवुं होय, तो एनी आजसुधीमां घणी सारी प्रसिद्धि थवी जोइए. आ सिवाय बीजां जे अनुकरणो मळे छे तेमांना केटलां एक सामान्य काव्य तरीके सारां छे अने केटलांक मात्र बगरनां पण छे.

जैनमेघदूत.

माणस अनेक जन्मोना संस्कारोथी, पोताना आजुबाजुना सहवासथी अनायासे शृंगाररसमां विशेष आनंद पामे छे. कविओ पण समाजना चारित्रनो विचार कर्यां सिवाय या पोते पण पूर्वभूत संस्कारोथी दबायेला होवाथी समाजना इष्टानिष्टनो विचार कर्या सिवाय, पोतानी कृति टुंक समयमां सर्वत्र विशेष आदर पामे, ए मुख्य लक्ष्य राखी काव्यसृष्टिमां विहर्या छे. श्रीमान् हेमचंद्राचार्य काव्यानुशासनमां रसनुं वर्णन करतां शृंगाररसनुं वर्णन पहेलां केम कर्युं तेनुं समाधान करतां जणावे छे के "तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयाऽत्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान्प्रति हृद्यतेति पूर्वं शृंगारः" आचार्यश्रीए आ थोडा शब्दोमां माणसना हृदयनुं प्रतिबिंब रजु करेलुं छे. शृंगाररसना कार्यप्रदेशनी मर्यादा परस्पर स्त्रीपुरुषमां अवसान पामे छे. तेमने हमेशां पोताना ज सुखनी लागेली होय छे. तेओ अन्यना सुखदुःखनी चिंता धरता नथी. छेवटे तो शृंगाररसनुं पर्यवसान दुःखमां ज आवे छे, या जो ते विकास पामे तो शान्तरसनुं रूप धारण करे छे. आथी कविओए जो शृंगाररसथी आगळ वधी शान्तरसनी सृष्टि रची होत तो समाज विशाळ भावनावाळो थइ शक्यो होत. रसनी जमावट एवी न होवी जोइए के मनुष्य पोतानी "वसुधैव कुटुम्बकम्" वाळी भावनाने नेवें मूके. जो शृंगाररसथी तृष्णा विशेष बळवान बने तो ते शृंगारिक साहित्यथी माणस आदर्शजीवी केवी रीते बनी शके. शृंगारिक साहित्यथी मनुष्यने बदलामां शुं मळे छे ?. प्रियपात्रनी झंखनामां शरीर घसाइ जाय छे, कुटुंब, समाज के देशनी फरजो भूली जाय छे. सारासारनो विचार थइ शकतो नथी. वळी तेवुं साहित्य सामान्य जनसमूहमां फेलावाथी अनेक दुर्गुणोने आश्रय मळे छे. आथी उलटुं विचारीए—शान्तरसनुं साहित्य माणसने शुं लाभ आपे छे ? अनुचित तृष्णानो नाश करे छे. मनुष्यधर्मनुं भान करावे छे. तृष्णाओ क्षय पामतां तेनी मर्यादा विशाळ रूप धारण करे छे. तेनी भावना "सर्वे सत्त्वाः सुखिनः सन्तु" होय छे. ते साहित्य जगतमां विश्वप्रेमनी भावना प्रसारे छे. प्रजाकीय साहित्यनी आशा राखनारने तो शृंगारथी दूर रहेवुं पडशे.

आ प्रमाणे कविओनां काव्यो सोए नवाणुं टका शृंगाररसथी ल्दायेलां होय छे. तदनुसार आ कविए पण शृंगार रसने प्रधानपद आप्युं छे. पण कवि पोते धार्मिक अवस्थामां होवाथी तेनुं पर्यवसान उत्तम शांतरसमां करेलुं छे. तेथी ज आ बन्ने रसनी जमावट थइ शके ते माटे नायक तरीके यदुकुलशिरोमणी श्रीनेमिनाथने पसंद करवामां आव्या छे. शृंगारना रसपानथी घेलो थयेलो समाज, पोतानी प्रेमभावना धीरे धीरे विश्वप्रेममां परिणत करे, तेटला माटे ज पोतानी अवस्थाने घटे तेवां ऐतिहासिक दृष्टांतो समाज समक्ष रजु करवां लाभदायक छे. आवी अवस्थावाळां बे दृष्टांतो जैनसमाजमां उज्ज्वळ कीर्तिथी पोतानुं स्थान दीपावी रह्यां छे. एक तीर्थंकर प्रभु नेमिनाथ अने बीजुं स्थूलभद्र. आ बे व्यक्तिओने अनुलक्षी जैन कविओए अनेक विविध काव्यो, कथानको, चरित्रो अने रासाओ गुंथेलां छे. ते ज प्रमाणे आ काव्यमां प्रभु नेमिनाथनुं चरित्र आलेखायेलुं छे.

टुंक काव्य-परिचय

प्रभु नेमिनाथ बाळपणथी इंद्रियोना विषय रसथी उदासी होवा छतां, कुटुंबीजनोना संतोषार्थे लग्न माटे तैयार थइ जाय छे. तेयामां पोताना निमित्ते हजारो निर्दोष पशुओनुं बलिदान थनार छे एम सांभळ्युं. आ समाचार सांभळतां ज घरबार, सहोदर अने पत्नी आदिनो त्याग करी पोतानुं अंतिम ध्येय प्राप्त करवा सौन्दर्यशाली गिरनार पर्वतउपर चाल्या गया.

'पोताना पति पोतानो सदाने माटे त्याग करी चाल्या गया' आवो वज्रपात समान संदेश सांभळी राजीमती मूर्छा पामे छे. ते दरम्यान नवीन मेघनुं आगमन थाय छे. चंदन अने वींजणा शीतोपचारथी राजीमती कंइक चेतनामां आवे छे, अने मेघनुं दर्शन थतां सहसा बोली उठे छे—

एकं तावद्विरहिहृदयद्रोहकृन्मेघकालो
द्वैतीयीकं प्रकृतिगहनो यौवनारम्भ एषः ।
तार्तीयीकं हृदयदयितः सैष भोगाद्व्यरंसीत्—
तुर्यं न्याय्यात् चलति पथो मानसं भावि हा किम् ॥ ४ ॥

आवा संयोगोथी विरहानलमां बळती राजीमती विचारे छे के, मारुं हृदय प्रिय वल्लभ विना तप्त पाषाणनी पेठे फूटे छे, आ दुःखनो प्रतिकार दृष्टिसमक्ष उपस्थित थयेल आ मेघ ज छे. कारण दावानळथी बळता वनने शीतळ जळथी शांत करनार केवळ मेघ ज छे. तदनुसार ते मारा प्रियतमने पण शांत करशे. आम विचारी केटलाक श्लोकोमां मेघनो सत्कार करे छे. ते पछी पोताना पतिने जे संदेश कहेवानो छे, ते पहेलां तेमनी ओळखाण करावे छे. कवि प्रभुनुं चरित चितरवामां थयुं काव्य पूर्ण करे छे. अथवा काव्य चार सर्गमां वहेंचायुं छे. तेमनी विगतवार वहेंचणी आ प्रमाणे करी शकाय—

पहेला सर्गमां नेमिनाथनी बाळक्रीडा तथा पराक्रमलीलानुं वर्णन छे.

बीजा सर्गमां वसंतवर्णन छे. तेमां प्रभुनी विविध प्रकारनी वसंतक्रीडानुं वर्णन छे.

त्रीजा सर्गमां विवाहमहोत्सव अने गृहत्यागनुं वर्णन छे.

चोथा सर्गमां विरहविवशा राजीमती पतिविरहिणी स्त्रीनी दशानुं वर्णन करे छे. ते समये पोतानी दशानुं वर्णन मेघने संभळावे छे—

कोकी शोकादसति निगमे वासरान्ते चकोरी
शीतोष्णर्तुप्रशमसमये मुच्यते नीलकंठी ।
त्यक्ता पत्या तरुणिमभरे कम्बुकण्ठ्यक्रियेवाऽ-
मत्रं वारां हृद इव शुचामाभवं त्वाभवं भोः ! ॥ ४–९ ॥

आ प्रमाणे पोतानी दुःखित अवस्थानुं वर्णन कर्यां पछी पोताना प्राणनाथने कहेवाना संदेशने संभळावे छे. चोथा सर्गना १४ मा श्लोकथी आरंभे छे अने ३७ मा श्लोक सुधीमां समाप्त करे छे. राजीमतीनी साहेलीओ आ संदेशो सांभळी राजीमतीने कहे छेः—हे सखि ! तुं क्यां ने प्रभु नेमि क्यां ? मेघ क्यां अने आ तारो संदेश क्यां ? आ सर्व अघटित बीना छे. तुं गमे तेटलो प्रयत्न करीश पण वीतरागी त्हारा उपर राग नहीं करी शके. तुं तेनो विश्वास छोडी

दे. राजीमती सखीओनां उक्त वचनो सांभळी शोकनो त्याग करी केवळज्ञान पामेला प्रभुनी पासे जइ व्रतग्रहण करे छे. त्यां स्वामीना ध्यानथी तन्मयत्व–स्वामिमयत्व प्राप्त करे छे. अथवा जेम स्वामी रागद्वेष रहित छे तेम तेणे रागद्वेष विनानुं आत्मत्व प्रगटाव्युं.

कवि अहीं काव्यने पुरुं करे छे. आ प्रमाणे आ संदेश महाकाव्य चार सर्गमां १९६ श्लोकोमां समाप्त थाय छे.

आ काव्यनी रचना नामसाम्य विना बीजी बधी रीते स्वतंत्र छे. कविए बीजां संदेश काव्योनी माफक कवि कालीदासना मेघदूतनी समस्यापूर्ति करी नथी. शैली, रचना, विभाग ए बधी बाबतोमां काव्य स्वतंत्र छे. काव्य प्रतिपदश्लिष्ट होवाथी क्लिष्ट छे. तेथी टीकानी साहाय्य विना अर्थ कहाडवो तुरतमां कठिन लागे छे. तो पण व्युत्पत्तिनी इच्छा राखनार विद्यार्थीने आ काव्य घणुं उपयोगी निवडवा संभव छे. पदलालित्य, अलंकारता अने प्रासादिकतामां आ काव्यथी कवि विक्रमनुं नेमिदूत अने चारित्रसुंदरगणिनुं शीलदूत चढी शके छे एम निष्पक्षपातपणे कहेवुं पडशे. काव्यना गुणदोषनुं पृथक्करण करवानुं कार्य विद्वज्जनोनुं छे.

काव्यकार मेरुतुंग

जैन समाजमां मेरुतुंग नामना आचार्यो बे त्रण थया छे. तेमां ग्रंथकार तरीके तो बे ज अत्यार सूचीमां प्रसिद्धिमां आव्या छे. एक चंद्रप्रभशिष्य मेरुतुंग अने बीजा अंचलगच्छीय महेंद्रप्रभसूरि शिष्य मेरुतुंग. पहेला ग्रंथकारनी समयमर्यादा चौदमो सैको छे. अने बीजानी पंदरमो सैको छे. आ बीजा मेरुतुंग छे ते आपणा काव्यकार छे.

प्रथम आचार्य महापुरुषचरित अथवा उपदेशशत, प्रबंधचिंतामणी, विचारश्रेणी, धर्मोपदेश, थेरावली, षड्दर्शनविचार, विगेरे ग्रंथोना कर्त्ता तरीके सुप्रसिद्ध छे.[1]

---

१ आ आचार्य विषे विशेष जाणवानी इच्छा राखनारे बॉम्बे ब्रॉन्च रॉयल एशिआटिक सोसायटी जर्नल इ. १८९४–९८ पृ.–१४० जोवुं.

बीजा मेरुतुंग ते प्रस्तुत काव्यना कर्त्ता तरीके जाणीता छे. आपणा आ काव्यकारना जीवनविषे विशेष प्रकाश पाडे तेवां घणां साधनो अत्र तत्र विखरायेलां पड्यां छे. ते बधाने सरणीबद्ध गोठववामां आवे तो तेमने विषे सारुं जाणी शकाय तेम छे. परंतु तेमना विषे कोइ प्राचीन कविए बनावेलो रास हस्तगत थयो छे. ते रास थोडा समयमां प्रकाशित थशे एटले ते वखते आ सर्वे उपकरणोनो उपयोग करवा धार्यो छे. ए माटे आपेला सामान्य परिचयथी वाचको संतोष मेळवशे एम इच्छीए छीए.

काव्यकारनो अल्पपरिचय

मारवाडमां[1] आवेला नाणी गाममां पोरवाल वंशीय वहोरा वैरसिंहनुं कुटुंब प्रख्यात हतुं. वहोरा वैरसिंहनी पत्नीनुं नाम नालदेवी हतुं. अने तेनाज उदरथी आपणा काव्यकारनो वि. सं. १४०३ मां जन्म थयो हतो. गृहस्थावासमां तेमनुं नाम वस्तिक[2] हतुं. अंचलगच्छीय प्रसिद्ध आचार्य श्रीमहेंद्रप्रभसूरि विहरता विहरता ते गाममां आवी पहोंच्या. वहोरा वस्तिके तेमनी पासे दीक्षा ग्रहण करी, अने ते समये तेमनुं नाम मेरुतुंग राखवामां आव्युं. एक तो बाल्यावस्था अने तेमां बालब्रह्मचर्यत्वनो संयोग थवाथी पोते विद्याध्ययन बहु सारुं करी शक्या. ते समयनी शिक्षानी पद्धतिनी अनुसार तेमणे संस्कृत, प्राकृत भाषामां अने तेनी साथे संबंध धरावनी विविध विद्याओमां बहु सारी व्युत्पत्ति प्राप्त करी हती. समयना वहन साथे तेमनामां चारित्र, ज्ञान अने क्रियानो संपूर्ण विकास थयो, त्यारे तेमना गुरुए तेमने वि. सं० १४२६ मां पाटणमां सूरिपद आप्युं. ते पछी आगळ जतां वि. सं० १४४५ ना फागण वदी ११ ना दिवसे गच्छनायकनी पदीपर तेमनी प्रतिष्ठा थइ. गच्छ अने संघ उपर तेमनो सारो प्रभाव

१–व्याख्यान पद्धतिमां "बाळदेस" एवो उल्लेख छे.

२–व्याख्यान पद्धतिमां "वस्तो" अने आ गच्छनी गुर्जर पट्टावलीमां "वस्तपाल" नामछे ते ठीक लागे छे.

हतो एम तेमनी पाछळना उल्लेखोथी समजाय छे. त्यार पछी वि. सं. १४७१ मागशर सुदी १५ ना दिवसे पाटणमां काळधर्म पाम्या. आ प्रमाणे तेमनी हैयाती वि. सं. १४०३ थी १४७१ सूधी हती अर्थात् तेओ ६८ वर्षे जीवनमुक्त थया हता. आटलुं लांबुं आयुष्य तेमणे पोताना विकास माटे अने समाजनी सेवार्थे खर्ची नाख्युं हतुं आ तेमनो समयनिर्णय अंचलगच्छनी पट्टावली, तेमनो रास वगेरे साधन उपरथी निर्णीत थयेल छे.

ग्रंथकारतरीके जीवन

काव्यकारे पोताना जीवनमां रचेला ग्रंथोनी सूची स्पष्टपणे आटली तो आपी शकाय छे—(१) जैनमेघदूत महाकाव्य (२) सप्ततिकाभाष्यटीका (३) लघुशतपदी (४) धातुपारायण (५) षड्दर्शनसमुच्चय (६) बालबोधव्याकरण (७) अने तेनी वृत्ति (८) सूरिमंत्रकल्पसारोद्धार वगेरे. एमणे प्रायः दरेक ग्रंथनी पाछळ प्रशस्ति तो आपेली छे. परंतु क्यांय रचनासमयनी नोंध नथी. तेथी दरेक ग्रंथोनो समयनिर्णय कष्टसाध्य छे. फक्त सप्ततिकाभाष्यटीकाप्रशस्तिमां जणावे छे केः—

"स्वस्य प्रशस्यस्मरणार्थमतैर्विनियत्वात्सस्यरसाभ्युपेतैः ।
व्यधानि नन्दाम्बुधिवेदसोमसंवत्सरे सप्ततिभाष्यटीका ॥"

आ सिवाय अन्य ग्रंथोना निर्माणकाळ उपर विशेष प्रकाश पाडी शकाय तेम नथी

मेघदूतनी समाप्तिना छेडे तेओ कर्ता तरीके पोतानुं नाम आपता नथी पण सप्ततिकाभाष्यनी वृत्तिनी प्रशस्तिमां स्वयं पोताना ग्रंथो बाबत जणावे छे के,

काव्यं श्रीमेघदूताख्यं षड्दर्शनसमुच्चयः ।
वृत्तिर्बालबोधाख्या धातुपारायणं तथा ॥
एवमादिमहाकाव्यनिर्माणपरायणाः ।
चतुर्णां दिशि चैनधर्मद्वाराय वेत्सवहम् ॥

आ सिवाय दूतटीकाकार टीकानी पीठिकामां मेघदूतना कर्त्ता तरीके आचार्यनो ज उल्लेख करे छे.

आ सिवाय जीतकल्पसार अने ऋषिमंडल स्तोत्रना कर्त्ता तरीके मेरुतुंगने गणायवामां आवे छे, पण ते कया मेरुतुंग ते चोकस थई शकातुं नथी. वळी जैनग्रंथावळीमां बालावबोधव्याकरणना कर्त्ता साथे तेना उपर रचायेल आख्यातवृत्तिढुंढिका, कृदृत्ति-टिप्पन अने प्राकृतवृत्तिना कर्त्ता तरीके पण मेरुतुंगनो उल्लेख छे. पण मने तो आ नोंधमां भ्रम लागे छे. कारण पोते मेरुतुंग सप्ततिका-भाष्यटीकानी प्रशस्तिमां लखे छे ते प्रमाणे बालबोधव्याकरण अने तेनी वृत्तिना कर्त्ता होवा जोइए. वळी बीजुं कारण व्याकरणकर्त्ताने पोते ज पोताना व्याकरणउपर एकवृत्ति सिवाय भिन्न भिन्न वृत्तिओ बनाववानुं प्रयोजन रहेतुं नथी. आ नोंधमां भ्रम थवानुं कारण एम कल्पी शकाय छे के नोंधनारना हाथमां व्याकरणना भिन्न भिन्न कटका हाथ आव्या होय अने ते दरेक उपर तेमनी वृत्ति तो होय, ते प्रमाणे दरेके जुदी जुदी नोंध करी लागे छे. आ सिवाय आ ग्रंथोनुं विस्तीर्ण स्पष्ट वर्णन तो तेमना रासना संपादन समये आपवानुं होवाथी अहीं आटलुं संक्षेप सूचन करी विरमवुं ठीक लागे छे.

टीकाकार

आ काव्य उपर बे टीकाओ थयेली छे. एक आ काव्य साथे छपाइ छे ते, अने बीजी श्रीमहीमेरुगणीकृत छे. आ प्रकाशन पामती टीकाना कर्त्ता श्रीशीलरत्नसूरि छे. टीकाना अवलोकनथी जणाय छे के, टीकाकार व्याकरण, अलंकार अने न्यायशास्त्रमां व्युत्पन्न होवा जोइए. स्थळे स्थळे प्रयोगोनी सिद्धि व्याकरणद्वारा बहु स्पष्टताथी समजावी छे. टीका [redacted] सरळ छे, जेथी अभ्यासीने अभ्यासमां मददगार निवडवा संभव छे.

टीकाकार आ महाकाव्यकर्त्ताना प्रशिष्य थाय छे. तेमना गुरुनुं नाम श्रीजयकीर्त्तिसूरि छे. तेओए आ टीका पाटणमां वि. सं. १४९१ ना चैत्रवदी ५ने बुधवारे रची छे. तेनुं संशोधन श्रीमाणि-

जयचंद्र सूरिए कर्युं छे. आ सर्वे बाबत टीकाकारनी प्रशस्ति जोवाथी स्पष्ट थइ जाय छे. तेओ आचार्य छे, छतां मूळ गच्छनायक नहीं होवाथी एमने विषे विशेष वृत्तांत मळी आवतो नथी. तेमणे आ टीका सिवाय अन्य कृति करी होय तेम पण जाणवामां नथी. टीकाना अध्ययनथी तेमना विषे बहुमान जागृत थयुं. अने तेने लीधे केटलो य प्रयत्न कर्यो, पण तेमणे कंइ ग्रंथरचना करी होय तेम जणायुं नहीं.

लेखक—

ता. २-१-२४ }
अमदावाद. }

छोटालाल मगनलाल शाह,
मुळासणवासी.



निवेदन अने आभारप्रदर्शन ।



आ अपूर्व काव्य काव्यनुं पठनपाठन करनारने अत्यंत उपयोगी होवाथी निर्णयसागर जेवा सर्वोत्तम छापखानामां छपावी प्रसिद्ध कर्युं छे. आ काव्यनुं संशोधन मुनि श्रीचतुरविजयजीए कर्युं छे अने तेनी हस्तलिखित बे प्रतिओ पण तेओए ज मेळवी हती. तेमांनी एक प्रति प्रवर्तक श्रीमत् कांतिविजयजी महाराजना पुस्तकसंग्रहनी हती. ते प्रतिमां कुल पत्रो ६६ हतां. पत्रनी दरेक पुंठीमां १४ लीटिओ हती. एटले तेनी बन्ने बाजुए मलीने २८ लीटिओ हती. आ प्रतिना अंतमां–"संवत् १९६६ मागसरवदि ९ बुध वारे" एवो लेख होवाथी आ प्रति नवीन छे अने ते जोइए तेवी शुद्ध न होती.

बीजी प्रति पाटणसंघना भंडारनी हती. तेनां २६ पत्रो हतां. तेनी दरेक पुंठीमां २४ लीटिओ लखेली हती. आ प्रतिना छेवटमां– "संवत् १४९४ वर्षे वैशाखवदी. २ सोमे लेखकपाठकयोः शुभं भवतु ॥" एवो उल्लेख छे. तेथी आ प्रति टीका रचाया पछी त्रीजे ज वर्षे लखाएली छे, छतां जोइए तेवी शुद्ध नथी. परंतु उपरनी प्रति करतां घणी ज सारी छे. आ प्रतिमां टीकाकारनी प्रशस्तिनो ६ ठो श्लोक नथी.

प्रस्तुत काव्यनुं संशोधन तथा प्रुफ जोवानुं कार्य मुनिराज श्री चतुरविजयजीए निःस्वार्थबुद्धिथी घणी काळजी राखी करी आप्युं छे तेथी तेओश्रीनो अने पुस्तक आपनार महाशयोनो खरा अंतःकरणथी उपकार मानुं छुं. जो के आ काव्यनुं संशोधन सारी रीते थयु छे छतां कोइ स्थळे पठनपाठन करनार महाशयने स्खलना देखाय तो सुधारी ले एटली प्रार्थना छे. आ काव्य उपर धुलासणनिवासी भाइ श्रीछोटालाल मगनलाल शाहे विस्तृत प्रस्तावना लखी आपी मने आभारी कर्यो छे तेथी ते महाशयनो पण उपकार मानुं छुं.

सेक्रेटरी.
श्रीजैन आत्मानंद सभा.
भावनगर.

अञ्चलगच्छीय-श्रीमेरुतुङ्गाचार्यविरचितं

जैन-मेघदूतम्।

॥ अर्हम् ॥

श्रीमद्विजयानन्दसूरिभ्यो नमः ।



श्रीमन्मेरुतुङ्गसूरिविरचितं

आचार्यश्रीशीलरत्नविरचितवृत्तिविभूषितं

जैनमेघदूतम् ।

प्रथमः सर्गः ।

आद्यो यः समकालमेव सकलाधिश्वं द्वितीयाद्वये-
नाम्नीतोऽभ्युदितोदितेन महसा भ्राजिष्णुरर्थैः कलाः ।
प्रादुर्भावयति स्म विश्वविदितोदात्तोदयाङ्कोऽप्युरु-
श्रीकः श्रीऋषभः स पुष्यतु सुखं स्फारस्तुषारद्युतिः ॥
संल्पयाप्यूगमप्यकृत्रिमगुणस्थैर्यं रमायाश्चिरं
संपर्कं च मलाद्विमुच्य सकलं कल्कस्य कर्मार्जितम् ।
धित्सा रैवतपर्वतायतनगुहां योऽभूद्योगीश्वरः
कल्याणोदयमार्गसिद्धिमतनोज्जीयात्स नेमिर्जिनः ॥
माधुर्येण मनोहरा परिणतौ सौम्यैकसंपादिका
काम्या कल्पतरोः फलावलिरिव स्फारा यदीया मुदम् ।
वाग्दत्ते विबुधव्रजाय स नवं श्रीमेघदूतं महा-
काव्यं श्रीगुरुमेरुतुङ्गगणभृच्चूडामणिर्निर्ममे ॥
गम्भीरार्थगुरुत्वधारिणि महाकाव्येऽत्र निर्दूषणे
टीका प्रत्युत लाघवाय भविता स्थूलार्थबुद्धेर्मम ।

अम्भोधिप्रभवे प्रभूतमहसा मान्ये महार्घ्ये मणौ
सामान्यस्थधियार्घजल्पनमजापालस्य बालस्य वा ॥
ये प्राज्ञाः नयमर्मचारिमगुणव्यापारपारङ्गमा-
स्तेषामेव विशेषकृद्यदि भवेन्मद्वाक्प्रपञ्चः किल ।
ये सूक्ष्मार्थदर्शिनो नयनयोर्नैर्मल्यतोऽत्र स्वयं
किं तेषां स्फटिकोपलस्तु फलिनो वर्णस्फुटत्वप्रदः ॥

ये सन्ति मन्दमतयो भुवनेऽत्र बाला
मणोऽप्यतीक्ष्णमलिनप्रतिभाः स्वभावात् ।
तेषां प्रबोधविषये स्वमतिप्रकाश-
हेतुं च यत्नमहमप्यमुमातनोमि ॥

इह हि महामहिमश्रीअञ्चलगच्छाधीश्वरश्रीमेरुतुङ्गसूरिभिः [illegible] प्रसन्नगम्भीरार्थपूर्णं श्रीमेघदूतं महाकाव्यं चतुःसर्गनिबद्धमलङ्कारनिचितं प्रारब्धमाचक्रुः । यद्यप्यत्र श्रीहेमाचार्य-पण्डितश्री-अमर-कालिदास-माघादिमहाकविप्रणीतानि गम्भीरार्थानि [illegible] सन्ति [illegible] महाकाव्यानि । तेषां [illegible] किमर्थं पुनः प्रयासः ? उच्यते, [illegible] पुनः [illegible] महाकाव्येषु महाकवीनां [illegible] । तथा च प्रयोगः—[illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] ॥"

१ "[illegible]" [illegible] ।

(काव्यालङ्कार १,१२) ननु नहि निष्प्रयोजना प्रवृत्तिः प्रेक्षावतामिति किमत्र प्रयोजनं ? उच्यते, "काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥" (१, २) इति काव्यप्रकाशानुक्तेषु बहुष्वपि प्रयोजनेष्वत्र जगत्त्रयत्रायकश्रीनेमिजिननायकपवित्रचरित्राकर्णनादेव परमप्रमोदोत्पत्तिः प्रयोजनम्, सकलप्रयोजनेषु तस्या एव महत्त्वादन्यप्रयोजनेषु सुविहितयतीनामिच्छाया असम्भवाच्च। ननु महाकाव्यानि तान्येवोच्यन्ते यत्र नगनगरसागरनरपतिप्रधानर्तुचन्द्रसूर्योदयशृङ्गारादिनवरसवर्णनं स्यात्। यथा रुद्रटः—"सन्ति द्विधा प्रबन्धाः काव्यकथाख्यायिकादयः काव्ये। उत्पाद्यानुत्पाद्या महल्लघुत्वेन भूयोऽपि॥ तत्रोत्पाद्या येषां शरीरमुत्पादयेत्कविः सकलम्। कल्पितयुक्तोत्पत्तिं नायकमपि कुत्रचित्कुर्यात्॥ पञ्जरमितिहासादिप्रसिद्धमखिलं तदेकदेशं वा। परिपूरयेत्स्ववाचा यत्र कविः सेत्वनुत्पाद्या॥ तेषु महान्तो येषु प्रकृतेष्वभिधीयते चतुर्वर्गः। सर्वे रसाः क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि॥ ते तनवो विज्ञेया येष्वन्यतमो भवेच्चतुर्वर्गात्। असमग्राऽनेकरसा ये च समग्रैकरससयुक्ताः॥" (काव्यालङ्कार १६, २–६) इत्यादिवचनादत्र तेषां सर्वेषामसाकल्येऽपि कथं महाकाव्यता? इति चेत् सत्यम्, परं पेप्रीयमाणविद्वल्लोकैः श्लोकैरपि परमयुक्तियुक्तैरपूर्वार्थरचनानुपक्तैः प्रधानैः काव्यस्थानैर्महाकाव्यव्यपदेशो नानौचित्यमञ्चति, नैषधादिकाव्यवत्। अथवा परमाभङ्गुरगुरुसौभाग्यरङ्गावतारसर्वदैवतमारपट्टकुलशृङ्गारश्रीनेमिकुमारचरितकीर्तनात्केवलादेव जाघटीत्यस्य महाकाव्यप्रतिष्ठा। यथा जात्यरत्नरचितसौवर्णमुद्रिकयैव शृङ्गारेषु शोभासम्भारः। तत्रादौ मङ्गलाभिधेयगर्भमिदं वृत्तम्—

---

१ "लघवो" रुद्रटकाव्यालङ्कारे।

कश्चित्कान्तामविषयसुखानीच्छुरत्यन्तधीमा-
नेनोवृत्तिं त्रिभुवनगुरुः स्वैरमुज्झाञ्चकार ।
दानं दत्त्वा सुरतरुरिवात्युच्चधामारुरुक्षुः
पुण्यं पृथ्वीधरवरमथो रैवतं स्वीचकार ॥ १ ॥

'कश्चित्' लोकोत्तरगुणतयाऽलक्ष्यस्वरूपस्त्रिभुवनगुरुः 'कान्त
पत्नीं 'स्वैरं' स्वेच्छया 'उज्झाञ्चकार' तत्याज । त्रयाणां भुवना
समाहारस्त्रिभुवनम्, 'पात्रादिवर्जितादन्तोत्तरपदः समाहारे
(हैमलिङ्गानुशासन स्त्री० ५ श्लो०) इत्यत्र भुवनशब्दस्य पात्रादि
णान्तःपाठान्न ङीप्रत्ययः । ततश्च त्रिभुवने गुरुर्महान्, मह
चास्य गार्हस्थ्येऽप्यनन्यसम्भविपरब्रह्मविद्याविशेषत्वात्सफलसुरा
रनरेश्वराणां वन्दनीयत्वाच्च । यदि वा "भाविनि भूतवदुपचार
इतिन्यायात्त्रिभुवनस्य गुरुः शास्ता सम्यग्धर्मोपदेशक इति यावत्
अचिरेणैव केवलज्ञानोपलम्भेन यथावस्थितसमस्तवस्तुतत्त्वाव
धात्सफलसत्त्वहितार्थमेव प्रवर्त्तनशीलत्वाच्चेति । नन्वविषयेत्यादि
शेषणानि किं स्वरूपप्रतिपादकानि व्यवच्छेदकानि वा ?, आ
पक्षे तानि वैयर्थ्यं प्राप्नुयुः । अथ व्यवच्छेदकानि तर्हि किं व्य
च्छेद्यं निजागद्यते ?, कान्तात्यागस्तथाविधहेत्वन्तरेणापि स्या
स्यादियदित्याह—'अविषयसुखानीच्छुः' विषयाः श्रोत्रादीन्द्रियार्थ
शब्दादयस्तद्दिनानि सुखान्यविषयसुखानि विषयसुखानां दु
विदायित्वादिदोषदुष्टत्वेन तत्त्वतो दुःखरूपत्वादकृत्रिमचिदानन्द
सुखानीतिभावस्तानीच्छतीत्येवंशील इच्छुः "विन्दिच्छू" (सि
हेम ५–२–३४) इत्यनेन इच्छुर्निपातः । अविषयसुखेच्छा
कदाचित्तद्विषयदोषानुभवेऽपि स्यादत आह—'अत्यन्तधीमा
अन्तमतिक्रान्ता अत्यन्ता, "प्रात्यवपरिनिरादयो गतक्रान्तक्रुष्ट–
(सिद्धहेम ३–१–४७) इत्यादिना तत्पुरुषः क्रियाविशेषणं वा
ततोऽत्यन्ता अत्यन्तं वा धीर्विद्यते यस्य स तथा, औत्पत्तिक्यादि

बुद्धिस्त्रिकस्यातत्त्वनिष्ठेन प्रायः सान्तत्वादत्यन्तधीरत्र पारिणामिकयैव गृह्यते, तस्या एव सम्यग् हेयोपादेयपरिणामसुन्दरविचारसामर्थ्येनात्यन्तनिःश्रेयसफलवत्त्वेनात्यन्तविशेषणविशिष्टत्वात्। ननु यद्येवंविधो भगवान् तदा कान्तां किमत्यजत्? इत्याह—'एनोवृत्तिं' एनसां हिंसादिपातकानां वृत्तिं व्यापारं सर्वपापव्यापाराणां कारणत्वात्। कान्तायाः शुद्धसारोपलक्षणया एनोवृत्तेरारोपः, यथा "आयुर्घृतं, यशस्त्यागः" इत्यादि। कथं कान्तां तत्याज? इत्याह—'स्वैरमिति' स्वेच्छया न तु परोपदेशेन, अर्हतां स्वयमेव संबुद्धत्वात्। 'अथो' इत्यानन्तर्ये। 'सुरतरुरिव' कल्पवृक्ष इव दानं दत्वा 'रैवतं' सुराष्ट्रमण्डलालङ्कारं श्रीगिरिनारं 'स्वीचकार' भेजे। दीयते यत्तद्दानं कोटिसङ्ख्यकाञ्चनादि, मुजिपत्यादीनां आकृतिगणत्वात्कर्मण्यनट्, यथा भोजनमिति। ननु अत्रं स्वं चकार स्वीचकारेति व्युत्पत्तेराश्रयणात्तस्य भगवतो ममत्वदोषः प्रसज्यत इति चेन्न, योगिनामपि ध्यानसाधनस्थानादिषु स्वीचकारमात्रदर्शनात्। अन्यथा योग्यदेशादिषु प्रवृत्तिरयोग्यादिभ्यश्च निवृत्तिस्तेषां न स्यादिति। अपरपर्वतान् परित्यज्य रैवतमेव पुनः स्वीचकार? इत्याह—'पृथ्वीधरवरं' पृथ्वीधरेषु मेरुमानुषोत्तरादिषु मुक्त्यधिरोहत्वाभावत्वाभ्यामुपयोगित्वात् शेषपर्वतेषु पुनः सहस्राम्रवणादिसौन्दर्येण तुङ्गत्वादिना च वरं श्रेष्ठम्। एवंविधश्च पर्वतः सदोषोऽपि कदाचिद्भवतीत्याह—सर्वदोषाणां सर्पमार्जारवायसादिहिंस्रजन्तूनां चाभावेन 'पुण्यं' पवित्रम्। कुतो रैवतं स्वीचकार? इत्याह—'अत्युच्चधामारुरुक्षुः' अतिशयेनोच्चं धाम स्थानमपरस्यानस्यैतद्विशेषणानुपपत्तेर्लोकाग्ररूपमारोढुकामः, अयमर्थः—अन्यो योऽत्युच्चतरस्थानमधिरोढुमिच्छति स उच्चं स्थानं भजते। एवं भगवानप्यत्युच्चमुक्तिपदारोहं वाञ्छन्नुत्तुङ्गं रैवतपर्वतं स्वीचकारेति। इह कश्चित्कान्तेति वाक्यावयवः श्रीकालिदासकृतमेघदूतमहाकाव्यप्रथमवृत्ताद्यवर्णानुवृत्त्योपात्तः। न चैवमत्र कर्त-

t.

रपि परमार्थतो धर्म्मस्यैव पृथिव्याधारत्वेन स्वीकारात् । शेषविशेषणपदान्यपि पूर्ववद्व्याख्यानि । केवलमस्तुपं धाम लोकामरूपं सर्वोत्तमं तेजो वा । ननु काव्यं गुणालङ्कारभूषितं कार्यम् । यतो वाग्भटः—"साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम् ।" (१–२) इत्यादि । अत्र को गुणः? कोऽलङ्कारः? उच्यते, यद्यपि वाग्भटे दश गुणाः सन्ति तथापि काव्यप्रकाशेऽलङ्कारचूडामणौ च त्रयो गुणाः प्रोक्ताः सन्ति, 'माधुर्यौजःप्रसादाख्यो गुणाः ।' (अलङ्कारचू० ४ अ०) अन्येषामेष्वेवान्तर्भावात् । अत्रार्थस्य झगितिर्यार्पकत्वात् प्रसादः । पदानां मृदुरचनया च माधुर्यमपि । एवं गुणा यथार्हमूह्याः । एषां लक्षणम्—"मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू । अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये रचना तथा ॥ योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः । टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ॥ श्रुतिमात्रेण शब्दानां येनार्थप्रत्ययो भवेत् । साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणः स्मृतः ॥" (काव्यप्रकाश ८,७४–७६) ननु सगुणमपि काव्यं युवतीरूपमिव निरलङ्कारं नाभातीतोऽलङ्कारा उच्यन्ते—अलङ्कारा द्विधा, शब्दार्थभेदात् । तत्र शब्दालङ्काराः पञ्च—वक्रोक्ति १ अनुप्रास २ यमक ३ चित्र ४ श्लेष ५ रूपाः । अर्थालङ्कारास्तूपमाद्या बहुप्रकाराः । अत्रान्येष्वपि च काव्येषु प्रायोऽनुप्रासः शब्दालङ्कारस्तारतम्येन ज्ञेयः । तल्लक्षणम्—"तुल्यश्रुत्यक्षरावृत्तिरनुप्रासः स्फुरद्गुणः" (वाग्भट ४, १७) इति । कश्चित्कान्तामित्यादौ कायश्रावृत्तिः स्वयमभ्यूह्या । अर्थालङ्कारास्तु अवसर १ हेतु २ दीपक ३ उपमा ४ जाति ५ श्लेषा ६ ज्ञेयाः । तत्र श्रीनेमिसम्बन्धं प्रतिपादयितुः कवेः कश्चित्कान्तां सत्याज रैवतं स्वीचकारेति तस्योपलक्षणमित्यवसरः, "यत्रार्थान्तरमुत्कृष्टं सम्भवत्युपलक्षणम् । प्रस्तुतार्थस्य स प्रोक्तो बुधैरवसरो यथा ॥" (वाग्भट ४, १२४) कान्तात्यागेऽविषयसुखेच्छुताऽत्यन्तधीमत्ता एतो-

धृतिमिलादि तयोरन्योन्यशोभा हेतुः, "यत्रोत्पादयतः किंचिदर्थं कर्तुः प्रकाश्यते। तद्योग्यतायुक्तियुतो हेतुरुक्तो सुमेधसा॥" (वाग्भट ४, १०५) इति वचनात्। कान्तानुग्राश्चकार रैवतं श्रीचकारेति क्रियाद्वयस्य कश्चिदिलनेन सम्बन्धाद् दीपकम्, यतः—"आदिमध्यान्तवर्त्येकपदार्थेनार्थसङ्गतिः। वाक्यस्य यत्र जायेत तदुक्तं दीपकं यथा॥" (वाग्भट ४, ९९) सुगलकर्णिवन्नुपमा। तल्लक्षणम्—"उपमानेन सादृश्यमुपमेयस्य यत्र सा। प्रत्ययान्वयतुल्यार्थसमासैरुपमा मता॥" (वाग्भट ४, ५०) तथा पुण्यं पृथ्वीधरवरं जातिः। यतः—"स्वभावोक्तिः पदार्थस्य सक्रियस्याक्रियस्य वा। जातिर्विशेषतो रम्या हीनत्रस्तार्भकादिषु॥" (वाग्भट ४, ४७) एकेन वाक्येन तैरेव पदैर्द्वितीयार्थस्योद्भावनात् श्लेषः। "पदैस्तैरेव भिन्नैर्वा वाक्यं वक्त्येकमेव हि। अनेकमर्थं यत्रासौ श्लेष इत्युच्यते यथा॥" (वाग्भट ४, १२८) एषां संयोगात् सङ्करो ज्ञेयः॥ १॥

दीक्षां तस्मिन्निव नवगुणां सैपणां चापयष्टिं
प्रद्युम्नाद्यामभि रिपुचमूमाददत्येकवीरे।
तद्भक्तेति प्रच्छलितजगता क्लिश्यमाना निकामं
कामेनाशु प्रियविरहिता भोजकन्या मुमूर्च्छ॥ २॥

'भोजकन्या' राजीमती 'आशु' शीघ्रं मुमूर्च्छ। क सति? 'तस्मिन्नेकवीरे' श्रीनेमिनाथे दीक्षां 'आत्तवति' गृहीतवति सति। विशेषेणेरयति प्रेरयति महामोहमिति वीरः, एकोऽद्वितीयो वीर एकवीरः "पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलम्" (सिद्धहेम ३–१–९७) इति कर्मधारयः। तस्मिन् समये तादृशचरितस्यान्यस्याभावादद्वितीयः, "एकोऽन्यः केवलः श्रेष्ठः सङ्ख्या" (हेमानेकार्थद्विस्वरकाण्ड २श्लो०) इत्यनेकार्थात्। यद्वा वीरः सुभटः। किंभूतां दीक्षाम्? उत्प्रेक्ष्यते—प्रद्युम्नाद्यां रिपुचमूं 'अभि' लक्ष्यीकृत्य 'चा-

पयष्टिमिव' धनुर्यष्टितुल्यामित्यर्थः। प्रद्युम्नः काम आद्यो मुख्यो यस्यां सा प्रद्युम्नाद्या ताम्। पक्षे प्रकृष्टं द्युम्नं बलं यस्य स प्रद्युम्नो बलाधिकः पुमानाद्यो यस्यां सा ताम्। किंविशिष्टां दीक्षाम्? 'नवगुणां' नवा गार्हस्थ्ये प्रागभूतत्वात् प्रत्यग्राः शीलक्षमादयो गुणा यस्यां सा ताम्। चापपक्षे नवो गुणः प्रत्यञ्चा यस्याम्। पुनः किंभूतां दीक्षाम्? 'सैषणां' सकलदोषविशुद्धभक्तपानादिग्रहणरूपैषणाख्यतृतीयसमितिसहिताम्। धनुष्पक्षे एषणो नाराचः। अत्रान्याः समितीर्विहायैषणासमितेरेवोपादानं व्यवहारशुद्धिर्गृहस्थानामाहारशुद्धिश्च साधूनां प्रशस्यते इति ज्ञापनार्थम्। ननु यदि तेन भगवता दीक्षा गृहीता तदा राजीमती किं मूर्च्छिता? इत्याह—कामेन 'निकामं' अत्यर्थं ह्रियमाना। किंभूतेन कामेन? 'छलितजगता' छलितं जगद्विश्वं येन। पुनः ह्रियमाना? 'तद्गृत्का' इति, एषा राजीमती तस्मिन् श्रीनेमिनाथे भक्ता तद्गृत्का। तथापि राजीमती कुतः पीडयितुं शक्या? इति विशेषणद्वारेण हेतुमाह—'प्रियविरहिता' प्रियेण भर्त्रा श्रीनेमिना विरहिता वियुक्ता। तत्रायमत्र भावः—श्रीनेमीश्वरेण चारित्रे गृहीते सति तद्विरहदुःखेन राजीमती मूर्छितेत्येवंकथा सम्बन्धसर्वस्वेनेमिति कविरुत्प्रेक्षते—यदा किलाभिसरीभूतकन्दर्पसुभटस्य महामोहकटकस्य ध्वंसनायैकवीरेण श्रीनेमिना सैषणा दीक्षाचापयष्टिराग्राहि तदा श्रीनेमिनं प्रत्यपकर्तुमशक्नुवता छलयुद्धकुशलेन कामेन श्रीनेमिभक्ता श्रीनेमिरहिता चेति निकामंह्रियमाना सती राजीमती मूर्च्छिता। अत्र च भोजकन्या प्रियविरहिता चेति मिथो विरुद्धविशेषणद्वयोपादानं राजीमत्या भगवान् वरो वृतो भगवता पुनर्नैषा वधूत्वेन स्वीकृतेत्युभयभावज्ञापनार्थम्। अत्रोपमाऽनुप्रासश्लेषोत्प्रेक्षाहेत्वलङ्काराः। "कल्पना काचिदौचित्याद्यत्रार्थस्य सतोऽन्यथा। द्योतितेवादिभिः शब्दैरुत्प्रेक्षा सा स्मृता यथा॥" (वाग्भट ४, ९०)॥ २॥

ततो मूर्छानन्तरं किं जातम्? इत्याह—

सध्रीचीभिः स्खलितवचनन्यासमाशूपनीतैः
स्फीतैस्तैस्तैर्मलयजजलाद्रादिशीतोपचारैः ।
प्रत्यावृत्ते कथमपि ततश्चेतने दत्तकान्ता-
कुण्ठोत्कण्ठं नवजलमुचं सा निदध्यौ च दध्यौ ॥ २

'ततः' तदनन्तरं 'सा' राजीमती 'नवजलमुचं' नवीनमे[illegible] 'निदध्यौ' ददर्श 'च' अन्यद् 'दध्यौ' वक्ष्यमाणं विचारयामास [illegible] सति? 'तैस्तैः' सर्वलोकप्रसिद्धैः 'स्फीतैः' प्रभूतैर्मलयजजल[illegible] द्रादिशीतोपचारैः 'कथमपि' महता कष्टेन 'चेतने' ज्ञाने 'प्रत्यावृ[illegible] सति पश्चाद्वलिते सति । मलयजं चन्दनं जलार्द्रां क्लिश्यमा[illegible] [illegible] । किम्भूतैः? 'सध्रीचीभिः' [illegible] 'आशु' शीघ्रं 'उपनीतैः' [illegible]

[illegible]

यथा—"यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन । गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ॥" (रुद्रटकाव्यालङ्कार ७, ३८) निदर्श्यां दर्श्यां चेति क्रियाद्वयेन समुच्चयः । यथा—"यत्रैकत्रानेकं वस्तु परं स्यात्सुखावहाद्येव । ज्ञेयः समुच्चयोऽसौ द्वेधाऽन्यः सदसतोर्योगः ॥" (रुद्रटकाव्यालङ्कार ७, १९) एवमनुप्रासपरिकरभावसमुच्चयपरिकरालङ्कारा औत्सुक्यभावोदयश्च॥३॥

अथ सा यदभ्यौ तदाह—

एकं तावद्विरहिहृदयद्रोहकृन्मेघकालो
　द्वैतीयीकं प्रकृतिगहनो यौवनारम्भ एषः ।
तार्तीयीकं हृदयदयितः सैष भोगाद्व्यराङ्क्षी-
　त्तुर्यं न्याय्यान्न चलति पयो मानसं भावि हा किम्॥४॥

'एकं तावदिति' लोकोक्तेरनुकरणम् । यथा—"एकतो हि गमनं परदेशे अन्यतश्च पिशुनैः सह सङ्गः । पूर्वमेव हि कुभोजनमेकं मक्षिकाकवलितं च ततोऽन्यत् ॥ १ ॥" लोको हि दुःखपरम्परापीडित एवं वक्ति तेनात्र न्यूनपदत्वं न दोषाय किन्तु गुणाय । अव्यक्तमासपुंसकम् । "भावस्याशक्त्यार्थे व्यक्तं" (हे० लि० न० १०) इति वचनात् । यथाऽस्या गर्भे किं जातमिति । ततोऽयमर्थः—एकं तावदिदं कष्टं यत् 'मेघकालः' वर्षाकालः किंविशिष्टः? विरहिणां हृदयस्य द्रोहं करोतीति विरहिहृदयद्रोहकृत् । 'द्वैतीयीकं' द्वितीयमिदं कष्टं 'प्रकृतिगहनः' स्वभावविषमः 'यौवनारम्भः' तारुण्यप्रवेशः । 'तार्तीयीकं' तृतीयमिदं कष्टं यत् 'सैषः' सर्वजगत्प्रसिद्ध एष मानसप्रत्यक्षतया समीपवर्ती साक्षादनुभूयमानो भगवान्नेमिर्भोगात् 'व्यराङ्क्षीत्' विरक्तः । किंरूपो भगवान्? हृदयस्य दयितो वल्लभः । 'तुर्यं' चतुर्थमिदं कष्टं यत् 'न्याय्यात्' न्यायादनपेतात् 'पयः' मार्गात् 'मानसं' चित्तं 'न चलति' न भ्रश्यति । एतावता स्वीयस्वामिनं परित्यज्य मनोऽन्यं

पुरुषं न प्रार्थयतीतिभावः । द्वैतीयीकं तार्तीयीकमित्यत्र द्वितीयस्य पूरणं द्वैतीयीकं तृतीयस्य पूरणं तार्तीयीकम्, "तीयाट्टीकण्" (सि० ७–२–१५३) टीकण् प्रत्ययः । "वृद्धिः स्वरेष्वादेः–" (सि० ७–२–१) वृद्धिः । सैष इत्यत्र "तदः सेः स्वरे पादार्था" (सि० १–३–४५) इत्यनेन सिलोपः । यथा—"सैष दाशरथी रामः सैष राजा युधिष्ठिरः । सैष कर्णो महात्यागी सैष भीमो महाबलः ॥" व्यराङ्क्षीत्, रञ्जी रागे, रञ्ज विपूर्वः । अद्यतनी दि । "सिजद्यतन्याम्" (सि० ३–४–५३) सिच् । "व्यञ्जनानामनिटि" (सि० ४–३–४५) वृद्धिः । "सः सिजस्तेर्दिस्योः" (सि० ४–३–६५) ईआगमः । "चजः कगम्" (सि० २–१–८६) ज ग । "अघोषे प्रथमोऽशिटः" (सि० १–३–५०) ग क । "नाम्यन्तस्था–" (सि० २–३–१५) स ष । कषसंयोगे क्ष लोकात् । तुर्यमित्यत्र चतुर्णां पूरणं तुर्यं, "चे यौ चलुक् च" (सि० ७–१–१६४) यप्रत्ययः चलुक् । न्यायादनपेतं न्याय्यं तस्मादनपेते यप्रत्ययः । अत्रासत्पदार्थसमुदायादसत्समुच्चयः । न्याय्याम्रेत्यत्र पर्यायः । यथा—"वस्तुविवक्षितवस्तुप्रतिपादनशक्तमसदृशं तस्य । यदजनकमजन्यं वा तत्कथनं यस्स पर्यायः ॥" (रु० का० ७, ४२) विप्रलम्भरसाधिक्यं वा ॥ ४ ॥

कृष्णौ देशप्रभुरभिनवश्चाम्बुदः कालिमानं
न्यध्यागाते यदवगमयाम्येनसैवार्जितेन ।
यत्रैकोऽस्मत्पतिविरचिताश्लेषपेषानिषेधा–
दन्योऽस्माकं गहनगहने विप्रयोगेऽभिसर्गात् ॥ ५ ॥

यत् 'देशप्रभुः' देशस्वामी कृष्णः 'च' अन्यत् अभिनवोऽम्बुदः 'कालिमानं' कृष्णत्वं 'न्यध्यागाते' विदुतः 'यत्' कारणादहं 'अवगमयामि' जाने । येन हेतुनैतौ द्वावपि कृष्णाहो जातौ तत्कारणमहं जाने इत्यर्थः । अत्रावगमयामीति कथं प्रयोगः सिध्यति?

[illegible] प्रयोगः । अथवा [illegible] [illegible] [illegible] । अथवा [illegible], "[illegible]" (सिद्धा० ५-१-१८) [illegible], [illegible], [illegible] । "[illegible]" (सिद्धा० १-४-४१) [illegible], "[illegible]" (सिद्धा० ७-४-४१) [illegible], [illegible] सिद्धम् । अथवा [illegible] [illegible] । किं कारणम्? [illegible] — [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] इति [illegible] । अथ [illegible] हेतुमाह — [illegible] । '[illegible]' [illegible] '[illegible]' [illegible] '[illegible]' [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । "[illegible]" (सिद्धा० १-१-१६१) [illegible] । अयं भावः — [illegible] [illegible] [illegible] न निषिद्धः । [illegible] "[illegible] पापं [illegible] पाप [illegible] । [illegible] पापं [illegible] ॥" इति [illegible] पापं [illegible] । '[illegible]' [illegible] 'विप्रयोगे' वियोगे '[illegible]' [illegible] । [illegible] [illegible] । यतः — "[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] देवि! धीरा भव ॥" इति [illegible] । किंविशिष्टे विप्रयोगे? '[illegible]' [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] पुनरपि [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] करोति [illegible] । अत्र

समुच्चयकाव्यलिङ्गपरिकरानुप्रासाः । यथा—"समुच्चयोऽसौ स्वस्तो युगपद् या गुणक्रियाः ॥" (का० प्र० १०, ११६) "काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता ॥" (का० प्र० १०, ११४) देवप्रभुरिति अभिनव इति साभिप्रायैर्विशेषणैः परिकरः ॥ ५ ॥

नीलीनीले शितिलपनयन् वर्षयत्यम्बु वर्षन्
गर्जत्यस्मिन् पटु कटु रटन् विद्युत्यप्यभिमद् ।
पर्जन्येऽम्भस्यति शुचे विप्रलम्भोऽम्बुवाहे
वामावर्गः प्रकृतिकृशनः स्पर्धतेऽनेन युक्तम् ॥ ६ ॥

'विप्रलम्भः' वियोगवान् 'वामावर्गः' स्त्रीवर्गो वर्षासु 'एवं वक्ष्यमाणेन प्रकारेणानेन मेघेन युक्तं स्पर्धते । किंरूपो वामावर्गः? 'प्रकृतिकृशनः' प्रकृत्या कृशन ईर्ष्यालुः । किं कुर्वन्? 'अस्मिन्' अम्बुवाहे 'नीलीनीले' सति गुलिकाश्यामवर्णे सति 'शितिलपनयन्' शितिं श्यामं लपनं मुखं कुर्वन्निति । पुनः किं कुर्वन्? 'वर्षयति' वृष्टिं कुर्वति अम्बु वर्षन् । अस्मिन् गर्जति सति 'पटु' पटिष्ठं 'कटु' श्रवणासुखदं तीव्रं 'रटन्' विलपन् । अस्मिन् 'विद्युति' विद्यु- [illegible] 'औज्ज्वल्यं' [illegible] 'द्रवन्' [illegible] । किंविशिष्टेऽम्बुवाहे? 'शुचे' [illegible] प्रभवति सति । अन्योऽपि यो येन स्पर्धते स तथा [illegible], [illegible] यथा [illegible] कल्पति, यथा— "[illegible] । [illegible] [illegible] ॥" तथा वामावर्गोऽपि [illegible] करोति । यथा [illegible] वर्षति । यथा गर्जति तथा [illegible] प्रलपति । यथा च [illegible] मुञ्चति । वर्षासु [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], यत [illegible] । [illegible] च [illegible] च [illegible] [illegible] "[illegible] [illegible]" (सि० ३-४-४२) [illegible], [illegible] । [illegible], [illegible], [illegible]

"इवर्णादेः शीचे" (सि० ५-१-६९) आत्प्रत्ययः । एवं करो-तीति "णिज् बहुलं–" (सि० ३-४-४२) णिच्, यथास्य लुक् । विलुनं करोतीति "णिज् बहुलं–" (सि० ३-४-४२) णिच्-प्रत्ययः । "कत्तर्यनद्भ्यः" (सि० ७-४-४१) अन्त्यस्वरादेः लोपः । विलयतीति वर्तमाने । स्वतन्त्र भाव चौरादि "स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले" (सि० ७-१-६०) इत्यण्-प्रत्ययः । शंत् गतौ, च, इयर्तीति इत्यत् । वर्तमाने "हास्या-गरीभ्यो–" (सि० ५-१-६०) शानप्रत्ययः । "इयः क्ङिति" (सि० ४-१-१५) द्विर्वचनम् । "अतोऽस्" (सि० ४-१-३८) अत्वादस्य अ । "पूर्वस्यास्वे स्वरे य्वोरियुव्" (सि० ४-१-५८) इत्वम् । "पूर्वस्यास्वे स्वरे य्वोरियुव्" (सि० ४-१-३७) इय् । "इवर्णादेरस्वे–" (सि० १-२-२१) यत्वं, प्रथमा सि । "अतुरिता:" (सि० १-४-७०) नोऽन्तः । "अन्तो नो लुक्" (सि० ४-२-९४) नलुक् । अत्र विरहतापरिहरण-पुरुषयुगलता । तत्र विरहताया लक्षणम्—"विरहता । आलम्बन-स्यानुपलम्भस्य विभावपरिकल्पना: ॥ व्यत्वेऽप्यसङ्गवशयोगिनः क्रियैव च व्याक्तता । असम्भवप्रसंगता या सा सैव प्रकृताश्रया ॥ कार्ये नि-मित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति । तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यत्वेति च पञ्चधा ॥" (का० प्र० १०, ९७–९९) अत्र विरहिणीनां विरहविशेषे प्रस्तुते सति तदन्यापेक्षस्य वचः ॥ ६ ॥

हंसीः कस्मादहिरिव सदाऽऽसक्तिनीमप्यमुष्य-
न्मां निर्मोकं त्वयमिव लघु सोऽप्यसौ तत्र जाने ।
यदा दैवं दधति विमुखीभावमाप्तोऽप्यमित्रे-
ष्वर्यस्य सात्त्विषु नियमने मायजाता न फीलः ॥ ७ ॥

'असौ' भगवान्श्रितः 'सोऽपि' निपुणोऽपि अहिरिव 'कस्मादेतोः' पुनः कारणान्मां निर्मोकत्वचमिवामुञ्चत् 'तत्' कारणमहं 'न जाने' न वेद्मि । यथा—'अहिः' सर्पः कस्माद्धेतोः 'निर्मोकत्वचं' कञ्चुलिकां

मुञ्चति तस्य ज्ञायते । किंविशिष्टां मां निर्मोकत्वचं च ? 'तद्रासवि-नीमपि' तं नाथमासजामीत्येवंशीला ताम्, पक्षे तं सर्पं आसज्जनी-नेत्येवंशीला सा तथाभव्यामपीत्यर्थः । पुनः किंविशिष्टां मां ? 'तनुं' तन्वीम्, पक्षेऽल्पभागाम् । 'यद्वा' इत्युत्तरार्द्धम् । 'यद्वेति' हेत्वर्थे । दैवे 'विमुखीभावं दधति' सति प्रतिकूले सति 'आप्तोऽपि' अवश्य-कोऽपि 'प्रतिवेश' अमित्रमिवाचरेत् शत्रुर्भवतीत्यर्थः । एतदाख्यं भावात्—'तर्गम्य' वत्साय 'नियमने' बन्धने 'मानजह्न' गोत्र किमु नीरडो न स्यात्? अपि तु स्यादेव । किल गोष्ठेषु गोपाः सायं नियमने वत्सकं गोजङ्घायां बद्धा गोदोहं कुर्वन्तीति स्थितिः । अत्र यथा गोजङ्घाऽपि विविधशक्तिजवस्यैव महाद्वारेण बन्धे कुर्वन्ति तथाऽस्मामपि भगवानाप्तोऽपि दैवप्रातिकूल्यान्मां मुञ्चति इत्यर्थः । अत्रादिरिवेति निर्मोकत्वचमिवेत्युपमा । कुतिचादि-भेदः । कोऽपीति विरोधः । न जाने इति विरोधः । यद्वेत्यर्था-न्तरन्यासः । तत्र—"विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।" (का० प्र० १०, ११०) "निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभि-धित्सया ॥" (का० प्र० १०, १०६) इति । "सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते । यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणे-तरेण वा ॥" (का० प्र० १०, १०९) इति । अथवा अर्थान्-तराणि काव्यलिङ्गः । "काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता-सम ॥" (का० प्र० १०, ११४) इत्यादि ॥ ७ ॥

मन्द्रध्वानं स्फुरति हि दिवा दम्भतो तस्य पूर्व-
मन्त्रागारं ममनुगतवद् भ्रमराम्बुदस्थम् ।
मन्दं मन्दं गगनचारी यथा मान्त्ररागेण वाच्ये
सम्प्रत्युक्तं मम हृदि यथा पूर्वोक्तः ॥ ८ ॥

मन्द्रध्वानं यथा स्फुरति यस्मिन् दिवा दम्भतो दिवसं पूर्वं दिवा मन्त्रागारं ममनुगतवद् मन्द्रध्वानं स्फुरति । यत्तं कापान्तिः

स्मरं 'सन्तं' पुनः दृश्यमानं 'भवदं' मेघं 'वपलदं' तस्य मेघस्य गर्जिते श्रेयसाति । किंविशिष्टमम्बुदम् ? 'कारुण्यार्णवं' कृपासमुद्रम् । यथा 'मृदुः' भवतः 'मन्मथैः' मम कायिकैः ज्वलदपि सर्वं मन्द 'बाष्पे' प्रेक्षितं 'शामयति' शामसन्तोषपूर्वं शमयति । कस्मिन् दर्शिते, यथैव मेघः 'अम्बुदगोपैः' गुरुजलैः 'दवमुखं' दवानल-ज्वालं एवं सर्वं शान्तयति शमयति । अत्र हितविनायें । मेघस्य इति "षष्ठे" (सि॰ ३–३–८१) षष्ठी । कपलदमित्यत्र सम्य कार्यमुपपदं "हस्तादेः" (सि॰ ५–१–९६) इति समासात्तोऽड-मुपमयः । पश्चाद् "विशेषणसर्वाधिकारादि–" (सि॰ ३–१–१९) इत्यादि सूत्रेणान्यपदीभावसमासः । ततः सामर्थ्यादिप्रत्ययस्य "गतस्या का" (सि॰ ३–२–४) इति सूत्रेणाम । अत्रोपमालङ्कारानुप्रासः । अत्र कर्मणिनि कारकस्य विशेषणमनुक्तमपि ज्ञेयम्, अन्यथा शान्तकत्वायोगात् । तेन दीनपदस्य आय साकाङ्क्षादोषधिक्यः ॥८॥

ध्यात्वैवं सा नवघनघृणा भूरिबोष्मायमाणा
युक्तायुक्तं समदमदनावेशतोऽविन्दमाना ।
अस्त्रासारं पुनः विसृजती वारि कादम्बिनीव-
दीना दुःखादथ यदुमुखं मुग्धवाचेत्युवाच ॥ ९ ॥

'अथ' अनन्तरं 'सा' राजीमती 'यदुमुखं' मेघं 'मुग्धवाचा' मनोहरवचनेनेति वक्ष्यमाणयुक्त्या उवाच । किं कृत्वा ? 'एवं' पूर्वो-क्तप्रकारेण ध्यात्वा । किंविशिष्टा सा ? 'नवघनघृता भूरिबोष्माय-माणा' नवघार्णी घनश्च नवघनः, नवघनेन घृता सिक्ता नवघन-सिक्तेति । ऊष्मायमाणा ऊष्माणं बाष्पमुद्वमन्ती । पुनः किंवि-शिष्टा सा ? 'समदमदनावेशतो युक्तायुक्तमविन्दमाना' मदोन्मोदरा-गोद्रेको मद उच्यते । मदायं मेघो मत्सन्देशैः प्रियं शान्तयिष्य-तीति प्रमोदः, मोदः पुनर्मूढता, तयोः सम्भेदः सङ्गमो मदरसेन सह वर्तते यो मदनाभ्यावेशः संरम्भलक्षणमयुक्तं चायुक्तं च न

प्रभमाला। अन्योऽपि समदाया मदनाया मदिरापा आरोग्य[illegible]न्तके न तिष्ठति। पुनः किंविशिष्टा? 'पुरु' प्रभूतं यथा भवति 'अम्बागारे' अम्बाणामधूगामामारे वेगवन्ती सती 'विद्युती' [illegible] द्युवेनी। किमव? 'कादम्बिनीव' यथा कादम्बिनी मेघ-माला पुरु यथा भवति 'वारि' पानीयं विमुञ्चति। किंविशिष्टा सा? [illegible]। अत्र घूर्णेति घुर्ण गेपने इति धातोः [illegible] [illegible] "[illegible]" (सि० ३-४-११) इति [illegible]। "[illegible]" (सि० २-१-९१) [illegible]। "[illegible]" (सि० ४-३-१०८) [illegible]। [illegible] इति [illegible]। [illegible] [illegible] धातोः [illegible] "[illegible]" (सि० ३-४-८१) [illegible] "[illegible]" (सि० ४-४-९९) [illegible]। [illegible]। [illegible]। [illegible]। [illegible] [illegible] मेघे सति [illegible], यथा [illegible] मेघे सति [illegible] ॥ ९ ॥

अथ [illegible] —

[illegible]! [illegible]
[illegible]।
[illegible] [illegible]-
[illegible] ॥ १० ॥

[illegible]

रयोग ! 'केतिर' यथा रथः सूर्यस्य गतिः 'दैव्ये मार्गे' आकाशमार्गेऽन्तरायाच्च्युत्यति । 'ते' तव 'स्यन्दनं' गुरुयानमने वर्तते ? । तत्र्त्यादित्र "पुरुषः स्त्रिया" (१-२-६६) इति पुरुषशेषः, तत्संगीताद्रक्षेपः । दैव्ये देवानामयं दैव्यः, "देवाद् यञ्" (पा॰ ४-१-८५) इति यञ् । अत्र दैव्ये मार्गे इत्याचारावावकत्वं पुरुष इति प्रतिदेः । अत्रोपमावर्णनोपमाबोधनुरागः । तत्त्वालांशादेः तत्र पूर्वन्तरायो नाम्नीत्यर्थस्य पर्यायेण वचनात् स्वर्यायोगम् । "अलंयोगे विना वाच्यवाचकत्वेन वस्तु यत् ।" (का॰ प्र॰ १०, ११५) ॥ १० ॥

अथ येन विश्वमपि कार्यं कारयितुं विश्यते, तस्य पूर्वं वर्णने विपरीते इति तथैवमतिरिव मेघं वर्णयति—

विश्वं विश्वं सृजसि रजसः शान्तिमापादयन् यः
　　संक्षोभेन क्षपयसि तमःस्तोममुद्भिद्यमानः ।
स त्वं ब्रह्मविष्णुशिवात्मनस्त्वाप्यसे धूमयोने !
　　तद्देवः कोऽप्यभिनवतमस्त्वं त्रयीरूपधर्मा ॥ ११ ॥

हे 'धूमयोने !' हे मेघ ! यस्त्वं 'रजसः' रेणोः शान्तिं 'आपादयन्' सम्पादयन्नर्थात्पृथिवीं सिञ्चन् 'विश्वं' समस्तं 'विश्वं' जगत् 'सृजसि' निष्पादयसि । जलस्य साक्षात्सृष्टा धान्यसस्यादीनां तदुत्पत्त्येन तिर्यक्पक्षिमनुष्यादीनां धान्यादिभ्यो सृष्ट्वा जनस्य साक्षात्कारणत्वेन च जगत्स्रष्टृत्वं त्वया न विरुद्धमिति । यस्त्वं 'संक्षोभेन' प्रभावलक्षणेन 'तमस्तोमं' अन्धकारसमूहं 'उद्भिद्यमानः' सन् प्रकाशरूपेण भिद्यमानः सन्, अर्थाद्वर्षेण विश्वं विश्वं 'क्षपयसि' क्षयं नयसि संहरसीत्यर्थः । मेघस्य सहोदैव दुर्दिनाभावस्य भावाच्च विश्वक्षयः, प्रकृत्या सावकाशस्य साक्षात्कारः, सत्त्वगुणाच्च सकललोकक्षय इति साक्षात्कारणत्वेन च जनस्य संहर्तृत्वमपि न विरुद्धम् । यस्त्वं 'अविरतपतनः' अनवरतं पतनः स त्वं लोकरक्षया शुद्धधीसारवचन

लभमाना। अन्योऽपि समदाया मदनाया मदिराया आवेशात् सुखं न विन्दति। पुनः किंविशिष्टा? 'पुरः' प्रभूतं यथा भवति 'अस्रासारं' अस्राणामश्रूणामासारं वेगवन्तं वर्षं 'विसृजती' विशेषेण कुर्वती। किंवत्? 'कादम्बिनीवत्' यथा कादम्बिनी मेघमाला पुरः यथा भवति 'वारि' पानीयं विसृजति। किंविशिष्टा सा? दुःस्वाधीना। अत्र पूर्तेति पूर्पू सेचने इति धातोः क्तप्रत्यये सति। ऊष्मेति ऊष्मन् ऊष्माणमुद्वमति "फेनोष्मबाष्पधूमादुद्वमने" (सि० ३-४-३३) इति क्यङ्। "नाम्नो नोऽनह्नः" (सि० २-१-९१) नलोपः। "दीर्घश्च्वियङ्यक्क्येषु च" (सि० ४-३-१०८) इति दीर्घः। ऊष्मायते इति आनश्। अविन्दमानेति विदंती लाभे इति धातोः आनशि "तुदादेः शः" (सि० ३-४-८१) शप्रत्यये "मुचादितृफदृफगुफशुभोभः शे" (सि० ४-४-९९) नोऽन्तः। शेषं स्पष्टम्। अत्रशब्दोऽकारान्तोऽस्ति। अत्रोत्प्रेक्षानुमानाद्यलङ्काराः। युक्तायुक्तविचारणे साध्ये मेघं प्रति भाषणं साधनम्, यथा गर्भीमती युक्तायुक्ता मेघं प्रति भाषणान्यथानुपपत्तेः ॥ ९ ॥

अथ सा मेघं प्रति यथाऽजल्पत् तथाऽऽरभ्यते—

कच्चिद्वाराधर! तव शिवं वार्षिकाम्भि च देहः
पौर्वेणैवं त्वं मलिनितरतिः सज्जहंसः सगोत्रम्।
अव्याबाधा स्फुरति करुणा दृष्टिमर्गे निसर्गा-
न्मार्गे दृष्टे पतिरिव त्वकः स्वागतं वर्तते मे ॥ १० ॥

'कच्चिद्' इति अभीष्टप्रश्ने। हे 'वाराधर!' हे मेघ! तव 'शिवं' कुशलं वर्तते? 'च' अन्यच्च देहो 'वार्षिकाम्भी' वर्तते? वार्षिकाम्भि मेघ वाणी शोभमानः। 'मलिनितरतिः त्वं' मलिनितरति भवान् वर्तते। किंवत्? 'सगोत्रम्' यथा सखी 'सज्जहंसी' सज्जहंसवत् सज्जहंसी च वर्तते। हे मेघ! ते तव 'दृष्टिमार्गे' दृष्टिपथे 'निसर्गात्' स्वभावात् 'अव्याबाधा' अव्याबाधरहिता करुणा स्फुरति।

कस्येव ? 'रवेरिव' यथा रवेः सूर्यस्य गतिः 'दैव्ये मार्गे' आकाशमार्गेऽव्याबाधा स्फुरति । 'ते' तव 'स्वागतं' सुखागमनं वर्तते ? । राजहंसावित्यत्र "पुरुषः स्त्रिया" (३-१-१२६) इति पुरुषशेषः, राजहंसीशब्दलोपः । दैव्ये देवानामयं दैव्यः, "देवाद् यञ्च" (सि० ६-१-२१) इति यञ् । अत्र दैव्ये मार्गे इत्याकाशवाचकत्वं सुरपथ इति प्रसिद्धेः । अत्रोपमापर्यायोक्तस्वभावोक्त्यनुप्रासाः । अव्याबाधेत्यादेः तव वृष्टेरन्तरायो नासीत्यर्थस्य पर्यायेण कथनात् सत्पर्यायोक्तम् । "पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यस्तु यत् ।" (का० प्र० १०, ११५) ॥ १० ॥

अथ येन किमपि कार्यं कारयितुं चिन्त्यते, तस्य पूर्वं वर्णनं विधीयते इति राजीमत्यपि मेघं वर्णयति—

विश्वं विश्वं सृजसि रजसः शान्तिमापादयन् यः
सङ्कोचेन क्षपयसि तमःस्तोममुच्चिह्नवानः ।
स त्वं मुञ्चन्नतिशयनतस्त्रायसे धूमयोने !
तद्देवः कोऽप्यभिनवतमस्त्वं त्रयीरूपधर्त्ता ॥ ११ ॥

हे 'धूमयोने !' हे मेघ ! यस्त्वं 'रजसः' रेणोः शान्तिं 'आपादयन्' उत्पादयन्नर्थात्पृथिवीं सिञ्चन् 'विश्वं' समस्तं 'विश्वं' जगत् 'सृजसि' निष्पादयसि । जलस्य साक्षात्स्रष्टा तृणधान्यलतावृक्षादीनां तदुद्भवत्वेन तिर्यक्पक्षिमनुष्यादीनां तृणादिभ्यो वृद्धत्वा जनस्य साक्षात्पारम्पर्येण च जगत्स्रष्टृत्वं स्रष्टृत्वा न विरुद्धमिति । यस्त्वं 'संकोचेन' अभावलक्षणेन 'तमस्तोमं' अन्धकारसमूहं 'उच्चिह्नवानः' सन् उत्प्राबल्येन निह्नुवानः स्फेटयन् सन्, अर्थादवर्षन् विश्वं विश्वं 'क्षपयसि' क्षयं नयसि संहरसीत्यर्थः । मेघस्य सङ्कोचे दुर्दिनाभावस्तदभावाच्च विश्वक्षयः, अवृष्ट्या तावज्जलस्य साक्षात्क्षयः, तत्क्षयाच्च सकललोकक्षय इति साक्षात्पारम्पर्येण च घनस्य संहर्तृत्वमपि न विरुद्धम् । यस्त्वं 'अतिशयनतः' अत्यर्थं नम्रः स त्वं लोकरूढ्या मुहूर्चीमरववम्

सारं जलं मुञ्चन् विश्वं विश्वं 'त्रायसे' पालयसि । धाराधरोऽपि सरलधाराधोरणीभिर्जलं मुञ्चति सदा राजानोऽपि प्रजा रक्षन्ति, सर्वे वर्णाः स्वस्वमर्यादां न त्यजन्ति, मातापितरौ सस्नेहमपत्यानि पुष्णन्ति, धर्मकर्माचारव्यवहारव्ययमायसौजन्यसौहार्दादीनि सत्कार्याणि प्रवर्तन्त इति घनस्य पालकत्वमपि न निषेध्यम् । 'तत्' तस्मात्कारणात् त्वं 'अभिनवतमः' अत्यन्तनवीनः कोऽपि त्रयीरूपधर्त्ता देवो वर्तसे । अयं भावः—लोके परमेश्वरस्त्रेधाऽपि सृष्ट्यादित्रयं करोतीति कविभिर्वर्ण्यते । यतो रघुः—"नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते । अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधात्मने नमः ॥" परमयं त्रयीरूपधर्त्ता देवो विषयाभिष्वङ्गरूपस्य रजसो रजोगुणस्य वृद्धिमुत्पादयन् ब्रह्मरूपेण विश्वं सृजति । तथा क्रोधरूपं तमोगुणं वर्धयन् रुद्ररूपेण विश्वं क्षपयति । तथा पुण्येच्छारूपं सत्त्वगुणं स्वीकुर्वन् विश्वं त्रायते । अतिशयेनान्यैश्च नम्यते । अयोनिजश्च प्रोच्यते । त्वं पुनः प्रोक्तगुण्या तद्वैलक्षण्येन विश्वस्य सर्गादिषु प्रवर्तसे, अतिशयेन नमसि, धूमाद्योत्पन्नसे, इति कोऽपि नवीनस्त्वं त्रयीरूपधर्त्ता देव इति । अत्रानुप्रासश्लेषव्यतिरेकपर्यायोक्तिरूपोदात्ताद्यलङ्काराः । तत्र त्रयीरूपोपमानात्तुल्यमेयस्याधिक्यविवक्षणाद्व्यतिरेकः । "उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।" (का० प्र० १०, १०५) इति । श्लेषः शान्तिमाचारयन् नद्योपैरन्त्यादिना पृथ्वीमेघनाशयंगतमागाधेनयांबकवनालयांयोग्यम् । बहुषु विशेषणेष्वारोपितम् । प्रेयस्य सर्वदोषविनाशात्रयी-मोऽत्यादिरूपविशदनेनोदात्तम्, "उदात्तं वस्तुनः संपत्" (का० प्र० १०, ११५) इति ॥ ११ ॥

अथ मित्रविरहदशान्तेऽपि मेघमालम्ब्य प्रणयमाह—

त्वं भ्रातः! प्रियतमविरहानलसन्तप्तानां
सम्यक् शरण भवसि मे त्वं मे रिपो ।

दानात्कल्पद्रुमसुरमणी यौ त्वयाऽधोऽक्रियेतां
कस्तुभ्यं न स्पृहयति जगज्जन्तुजीवातुलक्ष्म्यै ॥ १२ ॥
कामं मध्येभुवनमनलङ्कारकान्ता अनु त्व-
न्मघस्येव स्मरति च तवागोपगोपं जनोऽयम् ।
न्यासीचक्रे भवति निखिला भूतसृष्टिर्विधात्रा
तत्त्वां मापे किमपि करुणाकेलिपात्रावधेहि ॥ १३ ॥

हे 'जीमूत!' हे मेघ! त्वं 'अनन्यसाध्योपकारैः प्रथितमहिमा' वर्तसे, न अन्यैः समुद्रादिभिरपि साध्या अनन्यसाध्या उपकाराः सचराचरजीवलोकसेचनभीष्मग्रीष्मातपोपशमनसकलतृणधान्यनिष्पादनादयस्तैः प्रथितो विख्यातो महिमा यस्येति । कः पुमान् त्वां वीक्ष्य स्वे दृशौ प्रहृविसृत्वरौ नो विधत्ते?। कुञ्जितः पाणिः प्रह्वितिरुच्यते। यौ कल्पद्रुमसुरमणी त्वया दानादधोऽक्रियेतां जितावित्यर्थः। नात्तौ सर्वलोकप्रसिद्धौ त्वया । कः पुमांस्तुभ्यं न स्पृहयति?। किंविशिष्टाय तुभ्यम्? 'जगज्जन्तुजीवातुलक्ष्म्यै' जगज्जन्तूनां जीवातुर्जीवनौषधं लक्ष्म्यो गर्जितविद्युज्ज्वलादिका यस्य तस्मै। लक्ष्मीशब्दस्य बहुत्वे वर्तमानत्वात् "पुमनडुन्नौपयोलक्ष्म्या एकत्वे" (सि० ७–३–१७३) इत्यनेन कच् । तथा ङ्यन्तत्वाभावात् "गोश्चान्ते ह्रस्वोऽनंशिस–" (सि० २–४–९६) इत्यादिना ह्रस्वो न। ततः पुल्लिङ्गविशेषणत्वेऽपि लक्ष्मीशब्दस्य स्त्रियां वर्तमानत्वेन चतुर्थ्येकवचनस्य "स्त्रीदूतः" (सि० १–४–२९) इति दैआदेशे लक्ष्म्यै इति प्रयोगः। प्रहृतिसदृशावित्यत्र "त्यदाद्यन्यसमानादुपमानाव्याप्ये दृशष्टक्सकौ च" (सि० ५–१–१५२) इति क्विप् । सदृक्शब्दो व्यञ्जनान्तः । तुभ्यमित्यत्र "स्पृहेर्व्याप्यं वा" (सि० २–२–२६) इति चतुर्थी । अत्रोदात्तस्वभावोक्तिरनुप्रासाः ॥१२॥ काममिति । हे मेघ! 'मध्येभुवनं' भुवनस्य मध्ये 'अनलङ्कारकान्ता' अलङ्कारं विना कान्ताः सुभगाः 'त्वदनु' भवतः पश्चात् । त्वदिति "प्रभृत्यन्यार्थदिक्शब्द-

[illegible]" (सि० २–२–७९) इति पञ्चमी । 'आगोप-गोपं' अगं जनताया भावग्येन स्मरति । यथा गवः स्मर्यते इत्यर्थः । गां पृथ्वीं पातीति गोपो राजा, गाः पशून् पातीति गोपो गोपालः, गोपाश्च गोपाश्च गोपगोपाः, आब्रह्मस्तम्बम् , गोपगोपेभ्य आ आगोपगोपं आगोपालभूपालमिति । 'त्रियामा' [illegible] [illegible] 'भूतभृतः' प्राणिभृतः 'भवति' त्वयि [illegible] [illegible] [illegible], त्वं [illegible] तदा जीवति नान्यथा [illegible] । [illegible] त्रियामार्द्रं वस्तु [illegible] । [illegible] [illegible] 'नन्' [illegible] त्वां [illegible] [illegible] । [illegible] 'भवेदिति' [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]" (सि० ३–२–३०) [illegible] । [illegible] [illegible]" (सि० ३–२ ११) इति कर्मणि षष्ठी । आगोपगोपमित्यत्र [illegible]" (सि० ३–१–३२) इति [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible], "त्रियामाः [illegible] [illegible] ॥" (का० श० १०,१०४) [illegible] [illegible] [illegible] ॥१३॥

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] —

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] च
[illegible] [illegible] [illegible] ॥
[illegible] [illegible] [illegible] च
[illegible] [illegible] [illegible] ॥ १४ ॥

[illegible] [illegible] [illegible] । '[illegible]'

वंशे 'मूर्त्ताः' मूर्तिमन्तः 'दिशां नायकाः' दिक्पाला इव ये दश दशार्हाः, वर्त्तन्ते इत्यध्याहारः । 'च' अन्यत् 'तेषां' दशार्हाणां 'आद्यः' प्रथमः श्रीसमुद्रोऽस्ति । किंविशिष्टः ? 'क्षितिपतिगुरुः' क्षितिपतिषु नृपेषु गुरुः श्रेष्ठः । पुनः किंविशिष्टः ? श्रीशिवाप्रेयसी' श्रीशिवादेवी नाम्नी प्रेयसी पत्नी यस्यासौ श्रीशिवाप्रेयसी । ईयो बहुव्रीहित्वाद् "गोश्चान्ते ह्र–" (सि० २–४–९६) इत्यादिना न ह्रस्वः । ततः "दीर्घङ्याब्व्यञ्जनात्सेः" (सि० १-४-४५) सिलोप एव । पुनः किंविशिष्टः ? 'प्राज्ञः' निपुणः, अथवा प्रकृष्टा आज्ञा यस्य स तथा । 'द्वैधं' द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां 'सुकृतविजयी' सुकृतेन पुण्येन विजयी विजयवान् धर्मविजयीत्यर्थः । पक्षे सुष्ठु आनुकूल्येन कृतः सुकृतः, सुकृतो विजयो विजयशब्दो विद्यते यस्य श्रीसमुद्रशब्दस्य स तथा श्रीसमुद्रविजय इत्यर्थः । द्वैधं 'शुभप्रजाः' शोभना प्रजाः लोकः सन्ततिर्वा यस्य सः । "प्रजाया अस्" (सि० ७–३–१३७) इत्यनेन शुभप्रजस् जातम् । द्वैधं श्रीसमुद्रः श्रिया समुद्रो यद्वा श्रीसमुद्र इति नाम । अत्रोत्प्रेक्षारूपकश्लेषानुप्रासाः ॥ १४ ॥

सारस्वतैर्मनुपरिमितैः सूचितस्तस्य सूनुः
श्रीमान्नेमिर्गुणगणखनिस्तेजसां राशिरस्ति ।
यं द्वाविंशं जिनपतिमिह क्षोणिखण्डे प्रबुद्धा
दिव्यज्ञानातिशयकलिताशेषवस्तुं दिशन्ति ॥ १५ ॥

'तस्य' श्रीसमुद्रस्य सूनुः श्रीमान्नेमिरस्ति । किंविशिष्टः ? मनुपरिमितैः सारस्वतैः 'सूचितः' कथितः । मनवश्चतुर्दश तत्परिमितैश्चतुर्दशभिरिति । पुनः किंविशिष्टः ? 'गुणगणखनिः' गुणगणानां खनिरिव गुणगणखनिः । तेजसां राशिः समूह इव । 'इह क्षोणिखण्डे' 'प्रबुद्धाः' विद्वांसः 'यं' भगवन्तं द्वाविंशं जिनपतिं 'दिशन्ति' कथयन्ति । किंविशिष्टं यम् ? 'दिव्यज्ञानातिशयकलिताशेषवस्तुं' दिव्यः स्वर्गसम्बन्धी प्रधानो वा यो ज्ञानातिशयस्तेन कलितान्य-

शेषाणि वस्तुनि येन स तम् । अत्र यद्यपि भगवतोऽवधिज्ञानित्वेन तदा गार्हस्थ्येऽशेषवस्तुज्ञानं नास्ति तथापि "भाविनि भूतवदुपचारः" इत्यजिह्मब्रह्मलीलानिस्तुषवैराग्योन्मेषमुख्यकारणैरवश्यंभावितया सर्वलोकेभ्योऽप्यधिकतया च तस्य सर्वज्ञत्वमेव प्रत्यक्षं विवक्षितम् । द्वाविंशमत्र द्विविंशतिः । द्वौ च विंशतिश्च द्वाविंशतिः, "द्वित्र्यष्टानां द्वात्रयोऽष्टाः प्राक्शतादनशीतिबहुव्रीहौ" (सि० ३-२-९२) द्वा आदेशः । द्वाविंशतेः पूरणो द्वाविंशः "संख्यापूरणे डट्" (सि० ७-१-१५५) "विंशत्यादेस्तेर्डिति" (सि० ७-४-६७) विलोपः। "डित्यन्त्यस्वरादेः" (सि० २-१-११४) । अत्र रूपकमाविकानुप्रासाः । दिव्यज्ञानेनेति भाविकं, "प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः । तद्भाविकम्" । (का०प्र०१०,११४) इति॥१५॥

यस्य ज्ञात्वा जननमनघं कम्पनादासनाना-
मासां तासामिव न महतां पूज्यपूजाक्षणेऽस्मिन् ।
दिक्कन्याः षट्शरपरिमिताः शाङ्गजायाः सविश्व्याः
सम्यक् चक्रुः कनककदलीसद्मगाः सूतिकर्म ॥ १६ ॥

षट्शरपरिमिताः 'दिक्कन्याः' दिक्कुमार्यः आसनानां कम्पनात् 'यस्य' भगवतः 'अनघं' निष्पापं 'जननं' जन्म ज्ञात्वा 'शाङ्गजायाः' मरुदेव्याः 'सविश्व्याः' मातुः सम्यक् सूतिकर्म चक्रुः । शराः पञ्च "अङ्कानां वामतो गतिः" इति गणनात् षट्पञ्चाशत् । किंविशिष्टानामासनानाम् ? इत्येवमेव—'अस्मिन्' विवक्षिते पूज्यपूजायाः क्षणे प्रस्तावे 'तासां' दिक्कन्यानां 'आस्यां' उपवेशनं न महतामिव । अस्मिन् पूज्यपूजाक्षणे एता उपविश्य कथं तिष्ठन्ति ? इत्यप्रमाणानीवासनानि कम्पितानीति भावः । किंविशिष्टा दिक्कन्याः ? 'कनककदलीसद्मगाः' सुवर्णरम्भागृहगताः । सद्मानि सन्त्यस्य गर्ते इति औणादिकप्रत्ययः । "कुमार्यां वा" (सि० ३-४-१८) इति विकल्पः । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारोऽनुप्रासश्च ॥१६॥

जन्मे यस्य त्रिजगति सदा ध्वान्तराशेर्विनाशः
　प्रोद्योतश्चाभवदनिशं भास्वतीवाभ्युदीते ।
अन्तर्दुःखौघमुरु सुखं नारका अप्यवापुः
　पाथःपारे चिरमसलिले स्वातिवारीव शुक्राः ॥ १७ ॥

'तदा' तस्मिन् काले 'यस्य' भगवतः 'जन्मे' जाते सति ध्वान्तराशेर्विनाशः 'च' अन्यत् 'अनिशं' अनवरतं 'प्रोद्योतः' प्रकाशश्चाभवत् । कस्मिन्निव ? 'भास्वतीव' यथा भास्वति सूर्येऽभ्युदीते सति ध्वान्तराशेर्विनाशो भवति प्रोद्योतश्च । नारका अपि 'अन्तर्दुःखौघं' दुःखौघस्य मध्ये 'उरु' गुरुतरं सुखं 'अवापुः' प्रापुः । क इव ? 'शुक्रा इव' यथा शुक्राः 'चिरमसलिले' क्षारनीरे 'पाथःपारे' समुद्रे 'स्वातिवारि' स्वातिनक्षत्रसंबन्धि वारि जलं प्राप्नुवन्ति । जन्मशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति । अभ्युदीते इत्यत्र ईङ्म् गतौ, ईङ्धातुः अभि उत्पूर्वः क्तप्रत्ययान्तः । दुःखौघस्यान्तरन्तर्दुःखौघम्, "पारे मध्येऽग्रेऽन्तः षष्ठ्या वा" (सि० ३-१-३०) इति समासः । अत्र पर्यायविरोधोपमानानि । "एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायोऽन्यस्ततोऽन्यथा ।" (का० प्र० १०, ११७) अन्तर्दुःखौघमित्यत्र विरोधो द्रव्यगुणयोः ॥ १७ ॥

भक्तिप्रह्वा भवनपतयो विंशिनो व्यन्तरेन्द्रा
　द्वात्रिंशद्योपनव त्विषाधीशितारौ रवीन्दू ।
सङ्गत्य स्वःशिखरिशिखरे ते चतुःषष्टिरिन्द्रा
　जन्मस्नात्रोत्सवमतिहरि स्वामिनो यस्य तेनुः ॥ १८ ॥

ते चतुःषष्टिरिन्द्राः 'स्वःशिखरिशिखरे' स्वः स्वर्गस्तस्य शिखरी मेरुस्तस्य शिखरे शृङ्गे 'सङ्गत्य' मिलित्वा यस्य स्वामिनो जन्मस्नात्रोत्सवं 'अतिहरि तेनुः' विस्तारयामासुः, हरीणामिन्द्राणां ख्यातिर्यथाभवत्तथातिहरि, इन्द्राणां यादृशः कृतो ज्ञायते तादृशः कृत इत्यर्थः । ते के ? 'विंशिनः' विंशतिमात्राः 'भवनपतयः' असुरकु-

[illegible] 'च' अन्यद् [illegible] [illegible] 'परस्पर' [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] 'सर्वान्' [illegible] । [illegible] ? [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] इति [illegible] [illegible], "[illegible]" ([illegible] १४७) इति [illegible], [illegible], "[illegible]" ([illegible] ४–६७) [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], "[illegible]" ([illegible] ३–१–२१) [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] "[illegible]" ([illegible] ३–१–४१) [illegible] । [illegible] ॥ १८ ॥

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] ॥ १९ ॥

[illegible]

मानसर्वेन्द्रियाणि च प्रशमानि सावानीत्यर्थः । स्वात्मा-मीयसर्वाभिलाषपूर्णः, तेनात्र शान्तिवाची गृहीतः । 'तु' पुनः 'अमराः' देवा स्वल्पान्तरे 'सौधपृष्ठमपर्यं' सौधं धवलं पूर्वं तावन्तं कृत्वा इत्यर्थः । सौधे धवला पूर्वसे तावत्पर्यन्तं पूर्णं, "पूर्णिमाने कलुष् चान्य वा" (सि० ५-४-५७) णमुल्प्रत्ययः । 'विधे' समन्ता लोकाः 'प्रमदं' हर्षमदधुः । अत्रोत्प्रेक्षागर्भहेतुसमुच्चयालङ्कारः । स्वभावान्त्यादि महोक्तिः, "सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ॥" (का० प्र० १०, ११२) तथा 'क्रियागुणयोऽसौ न स्वन्यो युगपद् या गुणक्रिया ॥" (का० प्र० १०, ११६) ॥ १९ ॥

ये ये भावाः प्रियगुणकृते प्रक्रियन्ते प्रभुभि-
स्तांस्तांस्तस्यातनिषत हरिप्रेरिता देव्य एव ।
नानारूपाः सदृशवयसो हंसवद्दीनयन्तं
देवा एवानिशमरमयन्केलिवापीषु भक्त्या ॥ २० ॥

'प्रभुभिः' मातृभिः 'प्रियगुणकृते' अभीष्टगुणवृद्ध्यर्थं ये ये 'भावाः' स्नपनमण्डनशीतलनादयः 'प्रक्रियन्ते' प्रारभ्यन्ते 'हरिप्रेरिताः' इन्द्रादिष्टाः 'देव्य एव' अप्सरस एव 'तस्य' भगवतः 'तांस्तान्' भावान् 'अतनिषत' व्यस्तारयन् । हरिप्रेरिता देवा एव केलिवापीषु भक्त्या 'तं' भगवन्तं 'अनिशं' निरन्तरं अरमयन् । किंविशिष्टा देवाः ? 'नानारूपाः' नानाप्रकाराणि रूपाणि येषां ते नानारूपाः । पुनः किंविशिष्टाः ? 'सदृशवयसः' सदृशं भगवतस्तुल्यं वयो येषां ते सदृशवयसः । किंवत् ? हंसवत् । यथा हरिप्रेरिता वीचयः केलिवापीषु भक्त्या विचित्ररूपया हंसं रमयन्ति । हरिर्वायुः, "हरिर्दिवाकरसमीरयोः ॥ यमवासवसिंहांशुशशाङ्ककपिवाजिषु । पिङ्गवर्णे हरिद्वर्णे भेकोपेन्द्रशुकाहिषु ॥" (है० अ० ४५०–४५१) इत्यनेकार्थः । किंविशिष्टा वीचयः ? 'नानारूपाः' अनेकप्रकाराः । पुनः किंविशिष्टा

कीदृशः ? महसा: [illegible] कीर्तीनां तुल्या [illegible] [illegible] ॥ २० ॥

> अम्लानोऽपि स्फटिकविमलोऽभूषितः कान्तरूपो-
> ऽनल्पापापी प्रथितकरुणोऽप्यागसां धामनीषी ।
> किं किं ब्रूमः शुचिमतिरसौ शैशवेऽपि प्रकारै-
> र्ग्राम्योऽपि त्वमिव महता सर्वलोकोत्तरेण ॥ २१ ॥

हे [illegible] किं किं ब्रूमः ? [illegible] 'अम्लानोऽपि' [illegible] सर्वलोकोत्तरेण [illegible] सर्वलोकाः [illegible] सर्वलोकोत्तरः । [illegible] विशेषणद्वारेण [illegible] अम्लानोऽपि स्फटिकविमलः, [illegible] कान्तरूपः [illegible] । 'अनल्पापापी प्रथितकरुणः' [illegible] (सि० ५-१-१५४) [illegible] [illegible] ? 'आगसां धामनीषी' [illegible] (सि० ५-१-१११) [illegible] 'मनीषी' [illegible] [illegible] 'सर्वलोकोत्तरेण' [illegible] 'शुचिमतिः' [illegible] ॥ २१ ॥

[illegible]
[illegible] ।

यस्यास्तार्यं भवनमुदधेस्तैपदिष्टेऽप्यतार्यं
तस्य ग्रैष्मे तपति तपने केन शक्यं तरीतुम् ॥ २२ ॥

'यस्य' भगवतो रूपं बाल्येऽपि 'लोकातीतोल्लसितसुषमं' वर्तते, लोकमतीतातिक्रान्ता उल्लसिता सुषमा अतिशायिनी शोभा यस्य । 'तस्य' भगवतो रूपं यौवने केन वर्ण्यम् ? अपि तु न केनापि । क सति ? 'पुरुहे' प्रभूते 'धाम्नि' बले 'भवति' वर्द्धमाने सति । यस्य 'उदधेः' समुद्रस्य 'भवनं' पानीयं 'तैपदिष्टेऽपि' पौषपासकालेऽपि 'अतार्यं' तरीतुमशक्यम्, तस्य उदधेर्भवनं 'ग्रैष्मे' ग्रीष्मर्तुसम्बन्धिनि 'तपने' सूर्ये तपति केन तरीतुं शक्यम् । पौषे तु पयस्तोकं भवति, ग्रीष्मे तु ज्येष्ठाषाढयोर्वेलावृद्ध्या पयोवृद्धिः । ग्रीष्मस्यायं ग्रैष्मः, "भर्तुसन्ध्यादेरण्" (सि० ६–३–८९) अण्प्रत्ययो वृद्धिः । अत्र दृष्टान्तानुप्रासदेतवः ॥ २२ ॥

पद्मं पद्भ्यां सरलकदलीकाण्ड ऊर्वोर्युगेन
स्वर्वाहिन्याः पुलिनममलं नेमिनः श्रोणिनैव ।
शोणो नाभ्याश्चति सदृशतां गोपुरं वक्षसा च
पुद्रोः शाखानवकिसलये बाहुपाणिद्वयेन ॥ २३ ॥
पूर्णेन्दुः श्रीसदनवदनेनाब्जपत्रे च दृग्भ्यां
पुष्पामोदो मुखपरिमलं रिष्टरत्नं च तन्वा ।
वर्ण्येऽर्थौघे कचिदुपमितिं दधुरेवं सुधाश्चे-
देतस्याङ्गैर्भवति उपमाधिक्यदोषस्तथापि ॥२४॥ युग्मम् ॥

'चेद्' यदि सुधाः 'कचित्' प्रदेशे 'अर्थौघे' पदार्थसमूहे 'वर्ण्ये' वर्णनीये सति एतस्य 'अङ्गैः' अवयवैः एवंप्रकारेण 'उपमितिं' उपमानं दधुस्तथापि उपमाधिक्यदोषो भवति । एवमिति किम् ? 'पद्मं' कमलं नेमिनः 'पद्भ्यां' चरणाभ्यां सदृशतां 'अञ्चति' गच्छति सरलकदलीकाण्डो नेमिन ऊर्वोर्युगेन सदृशतामञ्चति । 'स्वर्वाहिन्याः' गङ्गायाः 'अमलं' निर्मलं पुलिनं नेमिनः 'श्रो-

निर्मितं कर्पूरैरेव महत् यः स्फाटिकस्य शालिनो मणी यस्याः । भोगिवल्लभः पुंसीति लिङ्गः । 'गोत्रः' करौ नेमिनो नाभ्या सहजनाम- भवति । 'च' अन्यत् 'गोपुरं' वर्णोऽसौ नेमिनः 'पद्मम्' इत्येव सहजनामभवति । 'पुष्टः' कल्पद्रुमस्य शाखानवपिण्डकैः नेमिनो पादाङ्गुलिरूपेण सहजनां भवति, "अर्शआदिभ्योऽच्" इति स्याद्वादभ्यः । शाखा पादाङ्गुलेन नखोपमत्वं ताभिस्तेनोक्तः । गोः गर्भस्य कुम्भः ॥ २४ ॥ 'पूर्णेन्दुः' पूर्णचन्द्रो नेमिनः श्रीमत्ल- पदनेन सहजनामभवति । 'च' अन्यत् 'भद्रतवं' कमठजं नै- मिनो 'दृश्यो' श्रोणनाभ्या सहजनामभवति । 'पुष्पामोदः' पुष्प- परिमलो नेमिनो मुखपरिमलैः सहजनामभवति । स्थिरत्वं च नेमिनस्तन्वा सहजनामभवति । रिष्ट-अरिष्ट इति शब्दद्वयमस्ति । अयं भावः—"किल श्रीअर्हतां रूपं पादाभ्यामारभ्य वर्ण्यते । अन्येषां तु शीर्षादारभ्य वर्णनम् ।" इति वृद्धाः । परमेवमपि भगव- त्पादाद्यवयवानां यदि पद्मादीन्युपमानानि दीयन्ते तदा तडाग इव समुद्रः खद्योत इव सूर्य इत्यादिवद्धीनोपमादोषः स्याद्भगवत्पा- दादिभ्यः पद्मादीनामनिर्हीनत्वात् । अत एतद्दोषपरिजिहीर्षया पण्डिताः कश्चित्प्रदेशे सम्मिलिताः सन्तः "उपमानमुपमेयाद्विशिष्ट- तरं स्यात्" इतिन्यायात् पद्मादीन् पदार्थान् वर्ण्यान् कृत्वा श्रीनेमिनः पादाद्यवयवानुपमानत्वेन स्थापयन्ति । यथा पद्मं पद्भ्यामित्यादि । तथापि उपमानस्यासत्वाधिकत्वेनोपमाधिक्यदोषः स्यात् । यथा— "अयं पद्मासनासीनश्चक्रवाको विराजते । युगादौ भगवान् वेधा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः ॥" इत्यादिवत् । अतः श्रीनेमिरूपं कथमपि वर्ण- यितुं न शक्यते इति समर्थितम् । पद्भ्यामित्यादिषु "तुल्यार्थैस्तृती- याषष्ठ्यौ" (सि० २–२–११६) इति तृतीया भवति । उपमे- त्यत्र "ह्रस्वोऽपदे वा" (सि० १–२–२२) इति ह्रस्वस्य ह्रस्वः

अर्थः ॥ १ ॥ अत्र दीपवैशिष्ट्यप्रतिपादनार्थोऽयमनुप्रासः । पद्मार्थनो धन-
मतो समवसरणमिति ज्ञेयम् एतत्प्रकाशनार्थोऽयम् ॥ २४ ॥

अथ गुणवर्णनाय—

भाण्डागारे गणभरमणुं वीक्ष्य हृष्टः समन्तात्
　धैर्यौदार्यादिकगुणमणीनत्र येषां त्वयेश ।
तान् किं वक्तुं गणयितुमथ प्रेक्षितुं भूर्भुवःस्वः-
　प्रष्ठा देवा गुणगणरत्नां साक्षिणोऽभूः सहस्रं ॥ २५ ॥

'देवाः' हे प्रभो 'अत्र' भाण्डागारे समन्तात् धैर्यौदार्यादिकगुणम-
णीन् 'त्वयेश' दृष्टवानसि । किंविशिष्टो देवाः ? 'अणुं' भगवन्तं
'गणभरं' निधिं 'भाण्डागारे' कोशे वीक्ष्य हृष्टः । 'भूर्भुवःस्वःप्रष्ठा
देवाः' भूर्भुवस्स्वःलोकाः क्रमेण पातालमर्त्यस्वर्गलोकवासिषु
प्रष्ठा मुख्याः 'देवाः' देवमूर्धेन्द्राः । 'तान्' धैर्यौदार्यादिकगुणमणीन्
किं वक्तुं गणयितुं 'अथ' अनन्तरं प्रेक्षितुं साक्षिणः सन्तो गुणक-
रत्नानां सहस्रं 'अभूः' भवन्ति स्म । अत्र भावः—विशेषानेकानन्तोऽ-
नन्तान् गुणान् गुणाने स्वस्यार्थानि विन्यासं तत्र भाता श्रीनेमिजिन-
प्रभयभाण्डागारं वीक्ष्य हृष्टो यदा तत्र नाथे तान् समस्तान् गुणान्
स्थाने कुर्वन्तु तदा "न खलु गुणोऽतिविस्तारसमयस्मनिरीक्षितो म-
हान्यासो मतस्थभीष्णा स्वीकार्यः" इति नीति प्रमाणवता भगवता श्री-
नेमिना त्रिलोकनाथेन त्रिलोकप्रधानाः देवमूर्धेन्द्राः साक्षिणः कृताः ।
ते चानन्तगुणा एकमुखेन बहुभेदकोण गणयितुं द्वाभ्यां दृग्भ्यां प्रे-
क्षितुं न शक्नुते । अतः देवादिरेको द्वौ त्रय इत्यादि गुणसंख्यां वक्तुं
मानसगुणोऽस्ति । मूर्धैः पृथक् पृथक् त्वमस्य गुणान् गणयितुं सहस्र-
धरो जातः । इन्द्र उपविष्टो यथा सूर्यो गणयति तथा देवो वक्ति
नेत्रैरपि द्रष्टुं सहस्राक्षोऽभूदिति । अत्रातिशयोक्तिपरिकरकरणपोषकेऽ-
लङ्कारप्रधानद्वारपर्यायानुप्रासाः । भाण्डागारमित्यतिशयोक्तिः । "नि-
र्गीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत् ।" (का० प्र० १०, १००)

इत्यादि । गतभयमिति साकूतविशेषणेन परिकरः । गुणमणीनिति रूपकम् । एतावता भगवति सर्वेऽप्युत्तमगुणा वर्तन्ते इत्यर्थप्रतिपादनात्पर्यायोक्तम् । तान् किं इत्याद्युत्प्रेक्षा । भूर्भुवःस्वःप्रष्ठा देवा इति प्रतिपाद्ये वक्त्रमित्यादि सुखेत्यादि क्रमेण प्रतिपादनाद्यथासङ्ख्यम् ॥ २५ ॥

> व्योमव्याजादहनि कमनः पट्टिकां सम्प्रमृज्य
> स्फूर्जल्लक्ष्मालकशशिखटीपात्रमादाय रात्रौ ।
> रुग्लेखन्या गणयति गुणान् यस्य नक्षत्रलक्षा-
> दङ्कांस्तन्वन्न खलु भवतेऽद्यापि तेषामियत्ताम् ॥ २६ ॥

'कमनः' ब्रह्मा 'अहनि' दिने व्योमव्याजात् पट्टिकां सम्प्रमृज्य स्फूर्जल्लक्ष्मालकशशिखटीपात्रमादाय रात्रौ रुग्लेखन्या नक्षत्रलक्षादङ्कान् तन्वन् 'यस्य' भगवतो गुणान् गणयति । 'खलु' निश्चितमद्यापि 'तेषां' गुणानां 'इयत्तां' पारं 'न भवते' न लभते । भूङ्धातुरात्मनेपदी प्राप्त्यर्थे विकल्पेन णिजन्तोऽस्ति । यथा "भूङः प्राप्तौ णिङ्" (सि० ३-४-१९) भावयते भवते रूपद्वयम् । स्फूर्जत् लक्ष्म च स्फूर्जल्लक्ष्म लाञ्छनमेवालकाः केशा यत्र तत् स्फूर्जल्लक्ष्मालकमेवंविधं शश्येव खटीपात्रमादाय गृहीत्वा । रुक् कान्तिः सैव लेखनी तया । अयं भावः—ब्रह्मा यस्य गुणसङ्ख्यां कर्तुकामो दिवसे आकाशपट्टिकां मृष्ट्वा निर्जने एकाग्रचित्तत्वाद्रात्रौ स्फूर्जल्लाञ्छनकेशगुच्छकं चन्द्ररूपं खटीपात्रं गृहीत्वा चन्द्रनिर्गतकिरणदण्डलेखनीभिः शनैः परिदृश्यमानतारकमिषादेको द्वौ त्रय इत्याद्यङ्कान् कुर्वंश्च भगवतो गुणान् गणयितुं लग्नः । एवमाकाशपट्टिका पूर्णा परं गुणानां पारं न लभते । ततः पुनः प्रातराकाशपट्टिकां मृष्ट्वा रात्रौ तथैव गुणान् गणयति परं पारं नाप्नोति । अतः पुनः पुनराकाशपट्टिकामार्जनादि विधत्ते परं गुणानामद्यापि सङ्ख्यापारं नाप्नोति । स एवम्भूतो भगवतोऽनन्ता गुणा इति । अत्र रूपकाप-

दुरितान्तरितद्रूपदर्शनोल्लेखाः । तत्र व्योमव्यापाकाशव्यापकत्वादित्य-पह्नुतिः, "प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः ।" (का० प्र० १०, ९६) संख्यापाताभावे बचकत्वनिषाद्रूपनं हेतुर्वाक्यार्थ-तयोक्ता इति वाक्यलिङ्गम्, गुणानन्त्यार्थमनिपादनात्पर्यायोक्तम् ॥

अथ भगवतो रूपस्य गुणानां च विशेषवर्णनायाह्—

यत्तुल्यं पुनरपि परं रूपमाप्नोति सत्तां
नूनं नान्तर्भुवनमणवः सन्ति ते क्वापि केऽपि ।
ते नो विज्ञा अपि गुणगणः स्तूयते यैरगण्यः
वारं वारं नवनवनवान् वाम्नवासस्य भर्तुः ॥ २७ ॥

'नूनं' निश्चितं 'अन्तर्भुवनं' भुवनमध्ये ते 'अणवः' परमाणवः क्वापि स्थाने केऽपि न सन्ति 'यैः' परमाणुभिः पुनरपि 'तत्तुल्यं' तस्य भगवतः सदृशं 'परं' अन्यद्रूपं 'सत्तां' अस्तित्वमाप्नोति । यैः पर-माणुभिः स्वामिरूपं निष्पन्नं ते यदि विधेऽधिका अभविष्यन् तदा स्वामितुल्यं परमपि क्वापि रूपं निरपत्स्यत्, परं न निष्पद्यते यत-स्तादृशा अणवः क्वापि न सन्ति । तथान्तर्भुवनं ते 'विज्ञाः' पण्डिता अपि नो सन्ति । भुवनस्यान्तरन्तर्भुवनं "पारे मध्येऽ"—(सि० २-१-१०) अव्ययीभावः । 'यैः' विज्ञैः 'वाम्नवाम्' सत्याम् 'नवन-वनवान्' नूतननूतनान् नवान् नवान् 'वारं वारं' कृत्वा कृत्वा तस्य भर्तुः 'अगण्यः' गणनातिगो गुणगणः स्तूयते । भगवतो लोकोत्त-रानन्तगुणाः सस्तत्यर्थैः स्तूयन्ते ते विज्ञा विश्वे न सन्तीत्यर्थः । अभीक्ष्णं करणं पूर्वं प्राक्काले "ख्णम् चाभीक्ष्ण्ये" (सि० ५-४-४८) इति णम्प्रत्ययः, वृद्धिः, "वीप्सायां" (सि० ७-४-८०) द्विः । अत्रानुमानानुप्रासौ । अत्र भगवत्तुल्यरूपानुपलब्ध्या हेतु-नाधिकाः परमाणवो न सन्तीति साध्यानुमानम् । अगण्यत्वाद्गुण-गणाः स्तवनानुमानम् ॥ २७ ॥

अथ सर्वगुणानां तत्रैव सत्तामाह—

तत्सौभाग्यं तदतुलतरस्तज्जनानन्दि रूपं
तल्लावण्यं तदपरिमितं ज्ञानमन्यानवाप्यम् ।
सा मैत्री सा धृतिरविचला ताः कृपाक्षान्तिकान्ति-
प्रज्ञावाचः परमपि शुभं लभ्यमत्रैव लभ्यम् ॥ २८ ॥

'तत्' सर्वलोकप्रसिद्धं 'सौभाग्यं' सुभगभावः । तदिति सर्वत्र पूर्ववत् । अतुलं तुलारहितं तरो बलम् । तद् जनानानन्दयतीत्येवंशीलं जनानन्दि रूपम् । तद् लावण्यं लोकलोचनाञ्जलिपुटपेपीयमानशोभोपचयः । लवणशब्दो लक्षणया शोभायां वर्त्तते । तत् 'अपरिमितं' परिमाणरहितं ज्ञायते विशेषोऽनेनेति ज्ञानम् । किंविशिष्टं ज्ञानं ? 'अन्यानवाप्यं' अन्यैर्नावाप्यते प्राप्यते इत्यन्यानवाप्यं "भावाऽकर्त्रोः" (सि० ५–३–१८) घञ्प्रत्ययः, अन्यैरलभ्यमित्यर्थः । सा 'मैत्री' परहितचिन्ता । सा अविचला 'धृतिः' सन्तोषः । ताः कृपाक्षान्तिकान्तिप्रज्ञावाचः । स्पष्टं परमपि 'शुभं' संहननसंस्थानसत्त्वशौर्यादिकं सर्वोत्तमगुणरूपं वस्तु 'लभ्यं' युक्तं तद् 'अत्रैव' भगवति 'लभ्यं' प्राप्यम् । सुभगस्य भावः सौभाग्यम्, लवणस्य भावो लावण्यम्, "वर्णदृढादिभ्यष्ट्यण् च वा" (सि० ७–१–५९) ट्यण्प्रत्ययः । शुभमित्यत्र अव्यक्तत्वान्नपुंसकम् । एतावता भगवति सर्वलोकोत्तरगुणसंपदुक्ता । यतः—"संघयणरूवसंठाणवण्णगइसत्तसारऊसासा । एमाइऽणुत्तराइं हवंति नामोदया तस्स ॥" इति श्रुतसिद्धेः । अत्र समुच्चयसमानुप्रासाः । समुच्चयेऽपि समयोगः "समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित् ॥" (का० प्र० १०, १२५) परमणीत्यादि ॥ २८ ॥

अथ कथाप्रसङ्गमाह—

अन्येद्युः स्मःसद इव दिवि क्रीडतः कामिनीडा-
क्रीडक्रोडे युवनिमिमितान् वीक्ष्य वृष्णेः कुमारान् ।

तारुण्येनानुपमनुपमं बिभ्रतं मे प्रतीति
प्राड्वीणां मधुरपिकवाक् प्रेक्षितां प्रेमपूरैः ॥ २५ ॥

'स्वःस्त्रैणः' अन्वयः... 'मधुरपिकवाक्' मधुरा इव पिकस्य वाक् यस्याः सा... 'तं' तारुण्यं प्रति 'इति' वक्ष्यमाणं 'प्राड्वीणां' प्रकथ-यताम्। पिता च माता च पितरौ "पिता मात्रा वा" (सि० १-१-११५) सूत्रेण विकल्पादेकशेषः। किंविशिष्टौ पितरौ? 'प्रेमपूरैः' प्रेमपूरैः प्रेरितौ। किं कृत्वा? 'कार्यान्तरनिर्वाहणाय' कामिनां ष- ण्णां ... ... हेतुः, अतः कामिनो निवासाय ... कुमाराय इव ... आश्रित्य प्रपद्यते तस्य वीर्ये प्रत्यक्षे ... ... लक्ष्यते, अतः ... भागे 'पुत्रैः कुमारान' ... क्रीडतो वीक्ष्य। पुत्रिरिति पूर्वपुरुषः ... "तेषु वा" (सि० ३-२- १०८) पूर्वपदलोपः। किंरूपान् कुमारान्? युवतिभिः स्त्रीभिः परिगतान् ... । कस्मिन्? 'दिवि' स्वर्गे 'स्वःसद इव' देवा- निव, यथा स्वर्गे देवाः क्रीडन्ति। किं कुर्वन्तं तं? तारुण्येन 'अनुपममनुपमं' निरुपमानशोभां 'बिभ्रतं' धारयन्तम्। अनुपमि- त्यपि भवेयुः, "पूर्वापराधरोत्तरान्यान्यतरेतरादेनुम्" (सि० ७- १-५८) ... । प्राड्वीणामिति "... ... ..." (सि० २-२-७६) इति प्रकथनार्थे ... । ... । ... ... । कुमारक्रीडादर्शनं ... हेतुरिति वाक्यविक्रम। एतावता ... श्रीनिवारदेवीसमुद्रविजयौ श्रीरैवतकोद्याने ... ... कुमारान् क्रीडतो दृष्ट्वा श्रीनेमिजिनभट्टार- ... ... दुर्निवारपरिणयं पश्य प्रभोः पाणिग्रहणलीलां दिदृक्षू, 'इति' वक्ष्यमाणं वक्ष्यमाणमेवाभिलेखः ॥ २९ ॥

शैलेयं "शिलाया एयच" (सि० ७–१–११३) एयच् प्रत्ययः। तदनु "प्रात्ययपरिनिरादयो गतक्रान्त–" (सि० ३–१–४७) इत्यादिना तत्पुरुषः। अतिक्रान्तं शैलेयं दधि येनेति बहुव्रीहौ "दध्युरःसर्पिर्मधूपानच्छालेः" (सि० ७–३–१७२) इति कप्रत्ययः स्यात्। अवाङ्मनसेति वाक् मनश्चेति वाङ्मनसं "ऋक्सामर्ग्यजुषधेन्यनडुहवाङ्मनसाहोरात्ररात्रिंदिवनक्तंदिवाहर्दिवोर्वष्ठीवाक्षिभ्रुवदारगवम्" (सि० ७–३–९७) इति समासान्तोऽत्प्रत्ययो निपातश्च। व्यानशे अशौटि व्याप्तौ। ज्योत्स्ना विद्यते यस्यां सा ज्यौत्स्नी "ज्योत्स्नादिभ्योऽण्" (सि० ७–२–३४) अण्, वृद्धिः, "अवर्णेवर्णस्य" (सि० ७–४–६८) इत्यालोपे, "अणञेयेकण्नञ्स्नञ्टिताम्" (सि० २–४–२०) ङीप्रत्यये ज्यौत्स्नीरूपम्। शरदोऽन्तर्मध्यमन्तःशरदं "शरदादेः" (सि० ७–३–९२) अत्प्रत्ययः। अयि वयि पयि मयि नयि चयि रयि गतौ, अय् अभि–उत्पूर्वः कर्मण्यभ्युदयितः। अत्रोपमानमालोपमोदात्तानि ॥ ३५ ॥

तस्मिन् शङ्खे पूर्यमाणे सति यज्जातं तद्विशेषकेनाह—

तस्मिन्नीशे धमति जलजं छिन्नमूलद्रुवत्ते
शस्त्राध्यक्षाः सपदि विगलच्चेतनाः पेतुरुर्व्याम्।
आर्श्वं चाशु व्यजयत मनो मन्दुराभ्यः प्रणश्यन्मूढारमेवामुचत चतुरोपाश्रयं हास्तिकं च ॥ ३६ ॥

हाराचाम्रीरदधत हृदीवानने पौरनार्यो
योद्धुर्गुच्छच्छदवदपतन् फाल्गुनेऽस्त्राणि पाणेः।
प्राकाराग्राण्यपि विजगलुर्गण्डशैला इवाद्रेः
पूपके च प्रतिरुतनिभाद्भूरिमीरुजयन्तः ॥ ३७ ॥

तस्थुर्वीराः क्षितिपतिसमे यन्त्रविप्या इवैवा-
स्थानसान्तः किमिति चकितोऽधोक्षजः क्षोभमार्षीत्।

किं वा कल्पोर्णगवराणि मूर्च्छति प्रोदनादं
गर्वं पारित्रमिति सदा गम्यनामाप यायम् ॥ ३८ ॥

त्रिभिर्विशेषकम् ॥

'तस्मिन्नीति' श्रीनेमिजिनस्वामिनि 'जलजं' शङ्खं 'धमति' वादयति सति 'ते' प्रसिद्धा 'शस्त्राप्रवणाः' आयुधधारणप्रवणा अतिप्रगल्भत्वम् 'उर्व्यां' पृथिव्यां पेतुः । हर्षेणः । किम्भूताः शस्त्राप्रवणाः ? 'सर्पद्' सत्वरं विगलन्ती चेतना येषां ते विगलच्चेतनाः । 'च' अन्यत् 'आभ्रं' अभ्रसमूहं 'सन्तुगाभ्यः' दयसालभ्यः 'आशु' शीघ्रं 'प्रणश्यत्' पलायमानं मनो व्यजयत । अभ्राणां समूह आभ्रम् । अधैर्भीतिसम्पद्विर्भवेगेन मनोऽपि जितमित्यर्थः । 'मूढात्मेवाशुपद पशुरोपाश्रयं हास्तिकं च' च अन्यद् हास्तिकं हस्तिनां समूहः पशुरोपाश्रयं हस्तिशालामशुषत, शिरोमस्भान्त्या हस्तिनो हस्तिशालाकुलपत्या इत्यर्थः । क इव ? 'मूढात्मेव' यथा मूढात्मा मूर्खः पशुरोपाश्रयं पशूनां रक्षणाशुपाश्रयं स्थानं शुष्यति । "मूढेनेवौज्झयत च पशुरोपाश्रयः हास्तिकेन" इति पाठे 'औज्झयत' अत्यज्यत, परमस्मिन पाठे भग्नप्रक्रमो दोषः । अन्याः सर्वा क्रियाः कर्त्री निर्व्यूढाः सन्ति । एषा तु कर्मणीति भग्नप्रक्रमत्वम् । व्यजयतेति "परावेर्जेः" (सि० ३–३–२८) आत्मनेपदम् । अभ्राणां समूह आभ्रं "भिक्षादेः समूहे" (सि० ६–२–९) अण् । हस्तिनां समूहो हास्तिकं "कवचिहस्त्यचित्ताच्चेकण्" (सि० ६–२–१४) इकण्प्रत्ययः । अत्रोपमानक्रियासमुच्चयदीपकपर्यायोक्तानि । मनो व्यजयतेति वेगातिशयप्रतिपादनात्पर्यायोक्तम् ॥ ३६ ॥ हारावालीरिति । तस्मिन्नीशे जलजं धमति सतीति सर्वत्रापि संबध्यते । 'पौरनार्यः' नागरिकस्त्रियो हृदीव 'आनने' मुखे 'हारावालीरवधत' कोर्थः? यथा हृदि हारस्यावालिः प्रतिबिम्बितते, तथा मुखेऽपि हा इति रावलस्याप्रयो धृताः । बहुवचनमेकस्या अपि बहुशो हाहारावकरणात् ।

एतेनास्यातुलत्वं सूचितम् । 'योद्धुः' भटस्य 'पाणेः' हस्तादभ्रश्य पतत् । किंवत्? 'गुच्छच्छदवत्' गुच्छो वृक्षस्तस्य च्छदानि दलानि तद्वत्, यथा फाल्गुने गुच्छच्छदानि पतन्ति । योद्धुरिति जातावेकवचनम् । 'प्राकाराग्र्याण्यपि' कपिशीर्षाण्यपि 'विजगलुः' पतन्ति स्म स्फुटन्ति दुर्गभित्तेर्गलितानि भ्रष्टानि । के इव? 'गण्डशैला' यथाऽद्रेर्गण्डशैलाः स्थूलोपला गलन्ति । 'च' अन्यत् 'वज्रयन्त्रः' रैवतकः 'प्रतिकृतनिभात्' प्रतिशब्दमिषात् चुक्षुभे । किंविशिष्टः 'भूरिभीः' भूरिर्महती भीः भीतिर्यस्य सः । अत्र श्लेषोपमारूपकाणि मुनिमणुवर्णदीपकानि ॥ २७ ॥ तस्थुरिति । 'क्षितिपतिसभे' राजसभायां 'ह्रियैव' लज्जयैव 'यद्भुविप्याः' दैवपरास्तस्थुः, यदेवं करिष्यति तद्भविष्यतीत्येवमसम्यक् पलायने कातरा अमी इति अवाग्माम्याममनतो लज्जयैव तस्थुर्न तु धैर्येण । 'आस्थानस्य' सभाया 'मल्लः' मध्ये 'अधोक्षजः' कृष्णः क्षोभमापन् । किंविशिष्टोऽधोक्षजः? 'किमिति चकितः' चकितचित्ततया किं किमिति वादिनः 'किं वा' अथवा वद् किं कथ्यते? इत्यर्थः । तदा सर्वं 'चारित्रं धनिकं इति वाक्यं 'तथ्यतां' सत्यतामाप । क सति? 'शम्भोः' शङ्खस्य नादे 'नगरवरे' नगरदुर्गे 'मूर्च्छति' प्रभूतपति सति । चीर्णा नि सर्वं धनिकं मन्यन्ते, तद्दृष्टान्त्यामवदमानमपि तदा पतितम् । कोऽर्थः? शङ्खस्य महानादे सर्वत्र विस्तृते सति पृथक्त्वानुरागशालिसर्वैरपतिरिस्वसमवायाद्विशयपक्षदुर्गताश्चक्रनयाकारेऽपि [illegible] धीरेभ्यकरस्तैरिव स्वार्थिन्यात्मदिना क्षयनेन सर्वत्र धैर्यगुणत्वं तथाऽपि सर्वं सर्वं धनिकमिति वाक्यं सत्यमभूत् । क्षितिपतेः सभा क्षितिपतिसभं तत्र, "सभा राजामनुष्यपूर्वा" (पाणि० २।४।२३) इति नपुंसकत्वम् । अत्र पर्यायोक्तिः । [illegible] अनुप्रासः सर्वत्र [illegible] विशेषः । तथा:—[illegible]

गुणः । सर्वेषु कार्येषु वेत्ति विशेषविद्विद्भिः स्मृतः ॥" (श्लो० १०, १२६) इदं पारिप्लवमिति चञ्चलानामपि सहृद्यार्द्रमानाभिधान-मिति पर्यायोऽयम् । अत्र दीपकगुणयोरपि शालिनीयोजनः काव्यग्र-हेऽपि ज्ञेयाः ॥ २८ ॥

अथ शङ्खपूरणादनु यज्जातं तदाह—

जानन्नेवं स जलजतया हेतुबीजं कृपालुः
कर्तुं लिप्सोऽपि हि जलशयास्थानमार्गाद्विचेष्टः ।
नेमीनोपक्रममिदमिति ज्ञातपूर्वी मुरारि-
र्योग्याभूमौ भुजबलपरीक्षार्थमाह्वास्त तं च ॥ २९ ॥

'अथ' अनन्तरं स हेतुः 'कर्तुं' शङ्खं जलजतया हेतूनां दा-नाभ्यवहारगृह्णाद्यजनासमागमादाचारकम्पलोभदाह्याकारादीनां बी-जं कारणं हेतुबीजं जानन् 'लिप्सापि' लभ्यत्वापि 'हि' इति विस्मये 'जलशयास्थानमार्गात्' जलशयस्य कृष्णस्य आस्थानं सभामागच्छत् । शङ्खो जलजः कथ्यते तस्य भावो जलजता तया । नान्येव श्लेषे-णार्थान्तरमुद्भावयति कविः—हलयोरैक्यादन्योऽपि यो जडजो भ-वति जडाज्जायत इति जडजो मूर्खोद्भवः स हेतूनां कामक्रोधकल-हादिनिर्दयपैशुन्यादीनां बीजं भवतीत्येषोऽपि जलजः । अपि हीति विरोधोद्भावने । जडजतया हेतुबीजं लब्ध्वापि यो जडमध्ये शेते इति जडशयो मूर्खाश्रयत्वान्नि तस्य सभामागच्छदिति विरोधः । यदि जलजः हेतुबीजं ज्ञायते नहि जलशयास्थाने कथं गम्यत इति । 'च' अन्यत् मुरारिः 'योग्याभूमौ' श्रमभूमिकायां भुजबल-परीक्षार्थं 'तं' भगवन्तं 'आह्वास्त' आकारितवान् । अस्य यादृशं तादृशं वर्तते दोर्बलमपि तेनानुमानेन वर्तते न वेत्त्यभिप्रायेण तत्परीक्षार्थमनमाकारितवान् कृष्णः । यतं राजीमती तमभिमायं न वेत्तीति योऽभिप्रायः सोऽत्रापि निबद्धः । किंविशिष्टो मुरारिः ? 'इदं नेमीनोपक्रमं इति ज्ञातपूर्वी' इदमिति श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्षं सम-

त्कारकारित्वाच्च चेतसि आगरूकं शङ्खपूरणं नेमीशस्योपक्रमं नेमीशेनादौ प्रवर्तितम्, "आदावुपक्रमोपक्षे" (हे० लिङ्गा० न० ११ श्लो०) इति क्लीवत्वम् । ननु शङ्खस्तावदनेकैरपि पुरापूरि, अतोऽत्रादित्वं कथं येन क्लीवत्वम्? सत्यम्, परं यादृशः सागरगिरिनगरक्षोभकारी भगवता शङ्खोऽपूर्यत तादृशोऽन्येऽन्येन केनापि नापि पूरित इत्यादित्वम् । तद् ज्ञातं पूर्वमनेनेति ज्ञातपूर्वी "पूर्वमनेन सादेश्चेन्" (सि० ७-१-१६७) इति इन्प्रत्ययः । आह्वास्तेति "ह्वः स्पर्द्धे" (सि० ३-३-५६) इत्यात्मनेपदम् । अत्र श्लेषविरोधकाव्यलिङ्गानि । नेमिः शङ्खमापूर्य कृष्णसभां गतः । श्रीकृष्णोऽपि नादश्रवणचमत्कृतो भुजबलपरीक्षार्थं मल्लयुद्धाय स्पर्द्धया भगवन्तमाहूतवान् ॥ ३९ ॥

ध्यात्वा किञ्चिन्मनसि स विभुः श्रीपतिं स्माह बन्धोऽ-
न्योऽन्यं दोष्णोर्नमनविधिनैवावयोरस्तु सेयम् ।
साहस्राणामितरजनवच्चौत्तराधर्यवृत्तं
धत्तेऽभिख्यां निकषकषणं सन्मणीनामिवादः ॥ ४० ॥

स विभुर्मनसि किञ्चिद्ध्यात्वा श्रीपतिं 'आह स्म' उवाच । यदसौ त्रिभुवनस्यापि क्षोभकं मम मुष्टिप्रहारपार्ष्णिपातादिकं कथं सोढेति भगवान् दध्यौ, तथातीन्द्रियमिति राजीमती न प्रत्येति, एतदेव कलयति यद्भगवता किञ्चिद्ध्यातम् । अथ भगवान् किमुवाच? हे बन्धो! 'सेयं' भुजबलपरीक्षा आवयोः 'अन्योऽन्यं' परस्परं 'दोष्णोः' भुजयोर्नमनविधिनैवास्तु, एक एकतरस्य भुजं नामयतीति । अत्र युक्तिमाह—साहस्राणां पुरुषाणामितरजनवदौत्तराधर्यवृत्तं 'अभिख्यां' शोभां न धत्ते । ये सहस्रेण युध्यन्ते ते साहस्रा उच्यन्ते । मल्लयुद्धे एक एकेनाधःक्रियतेऽन्यस्तूपरि भवतीत्यौत्तराधर्यं, औत्तराधर्येण वृत्तं भवनं औत्तराधर्यवृत्तम् । एतावता सहस्रयोधिनः पुरुषाः सामान्यलोकवन्मल्लयुद्धेऽधःक्रियमाणा उपरि

भवन्तश्च न शोभन्त इत्यर्थः। किमिव? 'सन्मणीनां निकषकषणमिव' यथा प्रधानमणीनां चन्द्रकान्तादीनां निकषे शाणायां कषणं समुत्तेजनमभिव्यक्तिं [illegible] घत्ते। अत्रार्थान्तरन्यासोपमानुप्रासाः ॥ ४० ॥

ओमित्युक्त्वा स्थितवति पुरः केशवे संमुखीनः
स्वाम्यप्यस्थादतरलतनुर्योगनिद्रामवाप्तः।
द्वावप्येतावथ दशधनुःप्रांशुरिष्टांशुमूर्ती
बभ्रासाते इव नगपती सङ्गतावञ्जनाख्यौ ॥ ४१ ॥

'स्वाम्यपि' नेमीश्वरोऽपि 'संमुखीनः' संमुखोऽस्थात्। क सति? 'केशवे' कृष्णे ओमित्युक्त्वा 'पुरः' अग्रे स्थितवति सति यद्भगवता भुजयोर्नमनविधिनैव भुजबलपरीक्षाऽस्त्वित्युक्तं तत्प्रतिपद्य स्वामिनोऽग्रे ऊर्ध्वं स्थिते कृष्णे स्वाम्यपि संमुखस्तस्थावित्यर्थः। किंविशिष्टो भगवान्? 'अतरलतनुः' अतरला निश्चला तनुर्यस्य सः। उत्प्रेक्ष्यते—निश्चलाङ्गतया योगनिद्रामवाप्त इव। 'अथ' अनन्तरं 'एतौ द्वावपि' कृष्णनेमिनौ 'बभ्रासाते' विरेजतुः। किंविशिष्टावेतौ? 'दशधनुःप्रांशुरिष्टांशुमूर्ती' दश धनूंषि प्रांशुरुच्चैस्तरा रिष्टरत्नवद्अंशवो यस्याः सा रिष्टांशुरीदृशा मूर्तिर्ययोस्तौ। उत्प्रेक्ष्यते 'संगतौ' मिलितौ 'अञ्जनाख्यौ' अञ्जननामानौ 'नगपती' महापर्वताविव। अत्र संमुखं मुखं दृश्यतेऽस्मिन्निति संमुखीनः। तथा मुखसंमुखादीनस्-दृश्यतेऽस्मिन्निति ईनः। अत्रोत्प्रेक्षोपमानुप्रासाः ॥ ४१ ॥

दूरापास्तस्फुटरसकलाकेलिकृत्यान्तराया
व्याप्तानन्ताः परिहृतभवो(ऽ)निर्निमेषाक्षिलक्ष्याः।
मर्त्यामर्त्याः समगमत तौ तत्र चित्रीयमाणा
रोदःखण्डे लघु निशमकाः स्थेयताभिर्विशेषाः ॥ ४२ ॥

'मर्त्यामर्त्याः' नरामरास्तत्र 'रोदःखण्डे' आकाशपृथ्वीमध्ये 'समगमत' अमिलन्। किंविशिष्टा मर्त्यामर्त्याः? 'दूरापास्तस्फुटरसकलाकेलिकृत्यान्तरायाः' तत्र मर्त्यपक्षे दूरेऽपास्तान्यत्यक्तानि स्फुटं

प्रकृष्टं रसा मधुरागाः कला गीतान्ताः केऽप्यनुनिरागलोऽनु-ल्यापपयायाः कुत्रान्तरायामारमोरोऽनन्तरपरिकयाणानामाचा ङ-मा येभ्ये निगुणमोऽनन्तत्यागश्रीशल्यवमाया इन्द्राः । मम-कर्पंशो दूरेऽप्याम्नाम्नयाः भृशं प्रकृष्टं रसाः शृङ्गारायाः कला-केलिः कामतन्त्रस्य कृत्यानि क्रीडादीर्घिकालोकनपर्णीगृहनयनना-ट्यदर्शनाङ्गनापरिरम्भणादीन्येव प्रकृतप्रयोजनं प्रगल्भराया येभ्ये । पुनः किंरूपाः? 'व्यामानन्ताः' व्यामाऽनन्ता पृथ्वी येभ्ये । पक्षे व्यामनन्तमाकाशं येभ्ये । पुनः किंरूपाः? 'परिहृतगवः' परिहृता त्यक्ता गीर्वाणी येभ्ये । पक्षे परिहृतो गौः स्वर्गो येभ्ये । पुनः कथंभूताः ? मर्त्यपक्षे 'अनिर्निमिषाक्षिलक्ष्याः' निर्निमिषाणि निमेषरहितानि अनिर्निमिषाणि निमेषसहितानि अक्षीणि नेत्राणि तैर्लक्ष्यन्ते ज्ञायन्ते इति । अमर्त्यपक्षे निर्निमिषैर्निमेषरहितैरक्षिभिर्लक्ष्याः । अतएव न-रामराणां महासमुदाया नेत्राणां सनिमेषत्वानिमेषत्वाभ्यामेव लक्ष्य-माणाः सन्ति । पुनः किंरूपाः 'चित्रीयमाणाः' चित्रमाश्चर्यं कुर्वन्तः। पुनः किंविशिष्टाः ? 'लघु' शीघ्रं 'तौ' नेमिकृष्णौ निशमिष्यामो विलो-कयिष्याम इति निशमकाः । पुनः किंरूपाः ? 'स्तेयवन्निर्विशेषाः' स्तेयवत् सभ्यवत् निर्विशेषा विशेषरहिताः । समगमतेति "समो गमृच्छिप्रच्छिश्रुवित्स्वरत्यर्तिदृशः" (सि० ३–३–८४) इत्यात्मने-पदम् । चित्रङ् सौत्रो धातुः, चित्रं करोतीति "नमोवरिवश्चित्र-ङोऽर्चासेवाश्चर्ये" (सि० ३–४–३७) क्यन्, "क्यनि" (सि० ४–३–११२) ई, चित्रीयन्ते इति वर्तमाने "शत्रानशावेष्यति तु सस्यौ" (सि० ५–२–२०) आनशोऽन्तः । निशमका इति शमू दमूच् उपशमे, शम् निपूर्वो निशमिष्याम इति "क्रियायां क्रियार्थायां तुमुणकच्भविष्यन्ती" (सि० ५–३–१३) णकच्प्रत्ययः । "मोऽकमियमिरमिनमिगमिवमाचमः" (सि० ४–३–५५) इति वृद्धिनिषेधः । स्तेयवदिति हैमानेकार्थे "स्तेयोऽक्षुद्रकपुरोधसोः"

इति श्लेषः । अत्रार्थे न्यायं व्यवहारं पश्यतीत्यर्थः न्यायदर्शी इत्यर्थः । अत्र श्लेषमयुग्मयोरुत्प्रेक्षोपमानानि ॥ ४२ ॥

अग्रे भर्तुर्निजभुजमथो मत्तहस्तीव हस्तं
व्यातत्याभ्याद्यदुपरिवृढो दक्षिणं पुष्कराग्रम् ।
यस्य शुभ्राम्बुधिपरतटं राजकान्यप्यवापुः
स्कन्धावारैः सह नहि परोलक्षसद्यानपात्रैः ॥ ४३ ॥

'अथो' अनन्तरं 'यदुपरिवृढः' कृष्णो भर्तुरग्रे दक्षिणं निजभुजं 'व्यातत्य' विस्तार्य अस्थात् । किंविशिष्टं निजभुजम्? 'पुष्कराग्रं' पुष्करेण कमलेन अग्रं प्रधानम् । करे कमलं हि लक्षणं वर्तते । अथवा पुष्करवत् कमलवदग्रं यस्य तम् । क इव? 'मत्तहस्तीव' यथा मत्तहस्ती 'हस्तं' शुण्डादण्डं व्यातत्य तिष्ठति । किंरूपं हस्तम्? पुष्करं-पुष्करसंज्ञकमग्रं यस्य तं पुष्कराग्रम् । शुण्डादण्डस्याग्रं पुष्करं कथ्यते । अथ भुजस्य बलमाह—'राजकान्यपि' राजसमूहा अपि 'स्कन्धावारैः' महासैन्यैः सह 'यस्य' भुजस्य 'शुभ्राम्बुधिपरतटं' बलसमुद्रपारं नावापुः । एतावता षोडश राजसहस्राः ससैन्या अपि यस्य भुजस्य बलपारं न यान्ति "सोलस रायसहस्सा०" इत्यागमप्रामाण्यात् । किंविशिष्टैः स्कन्धावारैः? 'परोलक्षसद्यानपात्रैः' परोलक्षाणि-लक्षातीतानि सन्ति-प्रधानानि यानानि-वाहनानि पात्ररूपाणि तेषां पात्रैः-स्थानैः । श्लेषेण प्रतीयमानमर्थान्तरं यथा अम्बुधेः-समुद्रस्य तीरं स्कन्धावारैर्लोकरूढिप्रसिद्धैरत्यन्तगरिष्ठघटन समूहैर्न प्राप्यते । किंरूपैः स्कन्धावारैः? परोलक्षाणि सन्ति-विद्यमानानि यानपात्राणि प्रवहणानि येषु । अत्र राज्ञां समूहा राजकानि "गोत्रोक्षवत्सोष्ट्रवृद्धाऽजोरभ्रमनुष्यराजराजन्यगजपुत्रादकञ्" (सि० ६-२-१२) इत्यकञ् । लक्षात्पराणि परोलक्षाणि "परतः" (सि० ३-१-७५) इति पञ्चमीतत्पुरुषः । सूत्रबलादेव परः सविसर्गः । अत्रोपमाश्लेषोदात्तानि ॥ ४३ ॥

हस्ते सव्ये स्पृशति किमपि स्वामिनोऽनेकपस्या-
नंस्तास्कन्धं हरिभुजलता सा स्वयं स्तब्धितापि ।
मेरुं दण्डं क्षितितलमथ च्छत्रमाधातुमीष्टे
यस्तस्यैतत्किमिति च सुरास्तत्र संप्रावदन्त ॥ ४४ ॥

सा हरिभुजलता 'स्तब्धितापि' भृशं दृढीकृतापि 'आस्कन्धं' स्कन्धं यावत् स्वयं 'अनंस्त' नता । क सति ? 'स्वामिनः' श्रीनेमिनाथस्य 'सव्ये' वामे हस्ते 'किमपि' अल्पमात्रं स्पृशति सति । स्वामिना मनागेव वामभुजेन लीलयाऽऽक्रम्य कृष्णस्य बाहा स्कन्धं यावद्वालितेत्यर्थः । किंरूपस्य स्वामिनः ? 'अनेकपस्य' अनेकान् पाति रक्षतीत्यनेकपस्तस्य । अत्र प्रतीयमानमर्थान्तरम्–अन्यस्याप्यनेकपस्य हस्तिनो हस्ते–शुण्डादण्डे किञ्चित्स्पृशति सति लता 'आस्कन्धं' यावत्प्रकाण्डं नमति । 'च' अन्यत् 'सुराः' देवाः 'तत्र' समये इति 'संप्रावदन्त' संभूय सममेवोचुः । इतीति किम् ? 'यः' भगवान् मेरुं दण्डं 'अथ' अनन्तरं 'क्षितितलं' पृथ्वीतलं छत्रं 'आधातुं' रचयितुं 'ईष्टे' समर्थो भवति तस्य 'एतद्' हरिभुजावालनं 'किम् ?' न किञ्चिदित्यर्थः । अनंस्तेति "भूषार्थसन्किरादिभ्यश्च ञिक्यौ" (सि० ३–४–९३) इति कर्मकर्तरि ञिक्निषेधः । स्वामी बाहामनमयद्, बाहा स्वयमनंस्त । आस्कन्धमिति "पर्यपाड्बहिरच् पञ्चम्या" (सि० ३–१–३२) अनेन पञ्चम्यव्ययीभावः । संप्रावदन्तेति "व्यक्तवाचां सहोक्तौ" (सि० ३–३–७९) इत्यात्मनेपदम् । सव्ये हस्ते इति पर्यायोक्तम् । स्वामिनाऽक्लेशेन बाहा वालितेत्यर्थस्य [illegible] पदमेतदर्थोद्योतकम् । भुजलतेति समासो- [illegible] । मेरुं दण्डमित्यर्थान्तरन्यासः, निषेध उदात्तं वा, युगपत्क्रियारूपः समुच्चयश्च । "निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।" (का० १०, १०६) इति ॥ ४४ ॥

महोर्दण्डोऽप्यहह सहसा नागलक्षैरनम्यः
श्रीशैवेयं प्रति कथमसौ पद्मतन्तूयते स्म ।
यद्वा न्यायोऽजनि विधिवशात्काकतालीयकोऽसौ
तत्कृत्वाऽस्य प्रतिकृतिमहं तुल्यवीर्योऽप्यभानि ॥ ४५ ॥
आत्मच्छायैरिति निगदतो देवकीनन्दनस्य
त्रैलोक्येशस्तृणितकुलिशं वाममायंस्त बाहुम् ।
अन्तःपङ्काकुलितकलितानङ्गलोकस्य दित्सुः
कारुण्येनाशुमदिव सदा धैर्यं हस्तावलम्बम् ॥४६॥ युग्मम् ॥

'त्रैलोक्येशः' श्रीनेमिनाथो वामं बाहुं 'आयंस्त' विस्तारयामास । कस्य किंभूतेनः? 'देवकीनन्दनस्य' कृष्णस्य 'आत्मच्छायैः' गुरुच्छायाभिरिति निगदतः सतः । इतीति किम् ? महो० 'अहह' इति खेदे, असौ 'महोर्दण्डोऽपि' मम भुजादण्डोऽपि 'सहसा' झटिति 'श्रीशैवेयं प्रति' श्रीनेमिनाथं प्रति कथं 'पद्मतन्तूयते स्म?' पद्मतन्तुरिवाचरति स्म ? । यथा पद्मतन्तुः सुखेन नम्यते तथा नत इत्यर्थः । किंरूपो महोर्दण्डः? 'नागलक्षैः' गजलक्षैर' नम्यः । इति प्रथमचिन्तायामविश्यामा गुरुच्छाया । 'यद्वा' अथवा असौ विधिवशात् 'काकतालीयको न्यायोऽजनि' यथा तालस्याधः काके निविष्टोऽकस्मात्तालफले पतिते काको विनष्टः, एवं मद्बाहुरपि दैवानुभावादेव सहसा नतो श्री नेमिनोऽधिकबलसंभावनेति द्वितीयचिन्तायां मध्यमा गुरुच्छाया । 'तत्' तस्मात्कारणादहमस्य प्रतिकृतिं कृत्वा तुल्यं वीर्यं बलं यस्य सभेति तुल्यवीर्योऽपि 'अभानि' भवानि । यथाऽनेन मद्बाहुर्नामितस्तथाऽहमप्येतस्य बाहुं नमयामीति प्रतिकृतिरिति चिन्तायां हृष्टप्राया छाया । किंविशिष्टं बाहुम् ? 'तृणितकुलिशं' तृणीकृतं कुलिशं—वज्रं येन स तम्, वज्रमपि यस्याग्रेऽसारत्वात्तृणप्रायमित्येवार्थः । 'च' अन्यत्तदा 'एषः' भगवान् 'अन्तःपङ्काकुलितकलितानङ्गलोकस्य

वृक्षस्य शाखां चालयित्वा हरिं वानरं दोलयति । 'च' अन्यत् सुमनसः तं भगवन्तं अभ्यपतन् । किंविशिष्टाः सुमनसः ? 'गोत्रान्' नाम्नः 'तुल्यैः' सुमनोभिः 'दिवि' आकाशे जयजयरवोद्घोषपूर्वं मुक्ताः । सुमनसो देवाः पुष्पाणि च । गगनाङ्गणे देवैर्जयजयारावमुखरद्भिः कुसुमवृष्टिः कृतेत्यर्थः । किंरूपं तम् ? 'सिद्धस्वार्थं' सिद्धो निष्पन्नः स्वार्थे आत्मार्थो यस्य तम् । उत्प्रेक्ष्यते 'तृपा इव' लोभेनेव यथान्येऽपि गोत्रादन्वयात्तुल्यैः सगोत्रैर्मुक्ता आक्षिप्तास्तृष्णया सिद्धस्वार्थं पुरुषमभिपतन्ति । सिद्धो–निष्पन्नः स्व–आत्मीयोऽर्थो यस्मात्तम् । ये गोत्रिभिर्मुक्ता भवन्ति ते निराधाराः सन्तो यस्मात्स्वार्थः सिध्यति लोभेन तं श्रयन्ति । अत्रेरित्यनेकार्थमपि परं शाखासंयोगाद्वृक्षवाचकमिति न संदिग्धदोषः । "तृट् तृष्णावत्तर्पवञ्च भवेल्लिप्सापिपासयोः ।" (हैम अने० १–१५) इति तृट् लोभवाची । अत्रोपमाशब्दश्लेषोत्प्रेक्षाक्रियासमुच्चयाः॥४८॥

वीक्षापन्नोऽप्यधिहसमुखो क्ष्वेपमुन्मुच्य दोष्मा-
नङ्कपालिं ददादिति हरिः स्वामिनं व्याजहार ।
भ्रातः ! स्थाम्ना जगति भवतोऽजय्यमेवासमद्य
प्रद्युम्नार्मी इव मधुनभःश्वाममाहात्म्यकेन ॥ ४९ ॥

'हरिः' कृष्णः 'अङ्कपालिं' आलिङ्गनं ददत्सन् स्वामिनं इति 'व्याजहार' उवाच । किंरूपो हरिः ? 'वीक्षापन्नोऽपि' विलक्षोऽपि 'अधिहसमुखः' अधिको हसो हास्यं यस्मिन्नेवंविधं मुखं यस्य । किं कृत्वा ? 'क्ष्वेडं' भुजमुन्मुच्य, 'दोष्मान्' बलिष्ठः । किमाह ? हे भ्रातः ! अत्राहं भवतः 'स्थाम्ना' बलेन 'जगति' विश्वे अजय्य एव 'भामं' अभवम् । परैर्जेतुमशक्योऽजय्यः । अभेऽप्यहं भवत्यानन्मि परं त्वद्बलेन सर्वेषामप्यजय्यो भविष्यामीत्यर्थः । काविव ? 'प्रद्युम्नाग्नी इव' यथा प्रद्युम्नाग्नी कामानलौ 'मधुनभःश्वासमाहात्म्यकेन' मधुः–वसन्तो नभःश्वासो–वायुस्तयोः माहात्म्येनाजय्यौ भवतः ।

केनुगमनोऽस्यन्दः, "गम्लृगतः" (सि० ५-१-१८) मनन्दयः "अग्रस्त्रियां स्त्री" (सि० ४-३-१०) इति निपातः । वीतपदोऽस्यादि पैर्देवनिपारिभाषोदयः । बहुलमालो-चनानुशासनः ॥ ४९ ॥

तेनान्यन्ते किमपि हलिनालोच्य सौभाग्यभाजा
सर्वेष्वप्यालस्तनविषयेऽभ्यर्थितोऽत्यादरेण ।
भ्राजिष्णुश्रीरथ स विदधन्नर्मकर्माणि जिष्णोः
शुद्धान्तेऽप्यस्खलितनिर्वतोऽपरागाधिरोऽस्तु ॥ ५० ॥

'अथ' अनन्तरं 'सः' भगवान् 'जिष्णोः' कृष्णस्य 'शुद्धान्तेऽपि' अन्तःपुरेऽपि 'नर्मकर्माणि' हास्यकर्माणि 'विदधत्' कुर्वन् अस्खलि-तमर्यादः सन् 'विजहे' विजहार । किरूपः सः ? 'तेन' कृष्णेन 'हलिना' बलदेवेन सह किमप्यन्तरमालोच्य 'सौभाग्यभाजा' सुभाग्यभाजा सता सर्वेष्वप्याश्लेषलालनविषयेऽत्यादरेणाभ्यर्थितः । सर्वेष्वप्याश्लेष लालनं–क्रीडनं तद्विषये, सम्बन्धश्चायम्—"तदा कृष्णः श्रीनेमिना सह प्रीतिवार्तां विधाय बलदेवेन सह मन्त्रार्थं लक्ष्मी-गृहमगात् तत्र बहुशोधितम् । ततो गृहगमनस्याद्राजीमती न धेनि विमातोधितमिति । तत्र श्रीकृष्णो बलदेवमेवमवादीत्, बन्धो ! दृष्टं नेमियौवनम् ? । एषः 'कीटिकाराशिवत् तितिरि-म्निनोति' इति न्यायेनात्मभिर्भूरितरसंभ्रामकैश्चापोटिभिः समस्तं राज्यमखर्वं हेलया लाम्मतीति सत्य विभावनः कर्तुमर्हं इति माध-वुभिःमायापूर्मेदितृप्त्वा 'नेमिकुमारः पाणिग्रहणराज्याङ्गीकरणपराङ्मुख एव प्रव्रजिष्यति' इति श्रीनेमिनाथेनोक्तमहीत्युपे, तच्छ्रवणाद्विमुख-प्रष्टं मधुरगिर्तनिविडभ्रातृस्नेहः स्वगौधमागत्य श्रीनेमिनमायायें मन्त्रं हृदूपविधाय । बान्धव ! त्वयाऽस्मदनुमहार्थं मत्सौधान्तःपुरेऽपि स्वभ्रातृजायाभिः सह निःशङ्कतया नर्मकर्मादिक्रीडा कर्तव्या ।" किंरूपः ? भ्राजिष्णुर्दीप्यमाना श्रीः शोभा यस्य स भ्राजिष्णुश्रीः ।

पुनः किंरूपः? 'अद्वेषरागः' अन्तःपुरे स्वजनेच्छया क्रीडन्नपि भगवान् रागद्वेषकलङ्ककणिकारहित एव । अत्र सौभ्रात्रमिति शोभनो भ्राता सुभ्राता सुभ्रातुर्भावः सौभ्रात्रम्, "युवादेरण्" (सि० ७-१-६७) अण्प्रत्ययः । भ्राजते इत्येवं शीलः "भ्राज्यलङ्कृग्निराकृग्-" (सि० ५-२-२८) इष्णुप्रत्ययः । अत्र परिकरविशेषोक्त्यनुप्रासाः । नर्मकर्मादिकारणेऽपि रागद्वेषानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः ॥ ५० ॥

इत्याचार्य-श्रीशीलरत्नसूरिविरचितायां श्रीजैनमेघदूत-
महाकाव्यटीकायां प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥



वसन्तर्तुः समेत इत्यर्थः । अध्वानमलन्तं गच्छतीति "अध्वानं येनौ" (सि० ७–१–१०३) ईनप्रत्ययः । अमित्रमभि अत्यन्तं गच्छतीति "अभ्यमित्रमीयश्च" (सि० ७–१–१०४) ईनप्रत्ययः, "रघुवर्णान्नो ण एकपदेऽ–" (सि० २–३–६३) नो णः, अभ्यमित्रीण इवाचरतीति "कर्तुः क्विप्–" (सि० ३–४–२५) क्विप्प्रत्ययः, अभ्यमित्रीणतीति वर्तमाने शतृ । "प्रादुराविः प्रकाशे" (अ० चिं० कां० ६ श्लो० १७५) । अत्र उत्प्रेक्षा ॥ १ ॥

अथ रतिपतेरभ्यमित्रीणत्व इत्युक्तं तत्र वसन्तवर्णने कामस्य युद्धसज्जतामष्टभिः काव्यैः कथयति कविः—

वानस्पत्याः कलकिसलयैः कोशिकाभिः प्रवालै-
स्तत्राऽऽसन्नभिन तनुभृतो रागलक्ष्मीनिवासाः ।
उत्पन्मोहप्रसवरजसा धान्यरं पूरयन्तोऽ-
मीकामीष्टा मलयमरुतः कामवाहाः प्रसस्रुः ॥ २ ॥

पूर्वं पुष्पाणि तदनु फलानि येषां स्युस्ते वनस्पतयः, "पुष्पैस्तु फलवान् वृक्षो वानस्पत्यो विना तु तैः ॥ फलवान् वनस्पतिः स्यात्" (अ० चिं० कां० ४ श्लो० १८१-१८२) इति 'वानस्पत्याः' वृक्षाः 'तत्र' वनितटे 'तनुभृतः' मूर्ताः रागलक्ष्मीनिवासा इव आसन् । अन्यत्रापि लोके लक्ष्मीयुताः निवासा भवन्ति, कामस्य लक्ष्मीः राग एव, तस्याः मूर्तिमन्तो निवासा इव वृक्षाः । कैः ? 'कलकिसलयैः' नवीनतरमनोज्ञपत्रैः 'कोशिकाभिः' प्रवालोत्पत्तिकारणकुड्मलाभिः 'प्रवालैः' नवीनपल्लवैः, एते सर्वेऽपि रक्ता भवन्ति अतो रागलेशैः विभूषिताः । 'च' अन्यत् 'मलयमरुतः' मलयाचलसम्बन्धिवाताश्च [illegible] 'प्रसृताः' । किंभूता मलयमरुतः ? [illegible] [illegible] मनोज्ञानि [illegible] प्रसवाः–पुष्पाणि तेषां [illegible] [illegible] 'अम्बरम्' आकाशं पूरयन्तः । पुनः किंभूताः ? अमी [illegible] । पुनः कथंभूताः ? [illegible]

भवति भ्राजिधातोरात्मनेपदीयत्वादेव । उपाय एव औपयिकः "उपायाद् ह्रस्वश्च" (सि० ७–२–१७०) इकण् ह्रस्वः । किशलानि संजातानि येषु ते किशलिताः "तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतः" (सि० ७–१–१३८) इतप्रत्ययः । सुवर्णस्य विकारोऽवयवो वा सौवर्णः "हेमादिभ्योऽञ्" (सि०६–२–४५) अञ्प्रत्ययः । अत्रोत्प्रेक्षारूपकानुप्रासाः ॥ ३ ॥

कासारान्तः शुचिखगरुचिः स्मेरराजीवराजी
रेजे राजप्रतिमकमनस्यातपत्रावलीव ।
शोभां भेजुः कुसुमिततमाः कुन्दशालासु गुल्मा
वातोद्धूता मरकतमहादण्डसचामराणाम् ॥ ४ ॥

'कासारान्तः' सरोमध्ये 'स्मेरराजीवराजी' विकस्वरकमलश्रेणी रेजे । उत्प्रेक्ष्यते—'राजप्रतिमकमनस्य' भूपरूपकामस्य 'आतपत्रावलीव' छत्रावलीव । किंरूपा स्मेरराजीवराजी ? 'शुचिखगरुचिः' शुचिरुज्ज्वलः खगः–पक्षी राजहंसस्तेन रुचिः–शोभा यस्याः, अथवा शुचौ निर्मले खगे श्रीसूर्ये रुचिः–इच्छा यस्याः सा सूर्यस्य प्रबोधदायित्वात्, पक्षे शुचिः–पवित्रा खगा–आकाशगामिनी रुचिः कान्तिर्यस्याः, अथवा शुचेः–आषाढस्य खगः–सूर्यः तद्वद्रुचिः–कान्तिर्यस्याः सा । 'कुन्दशालासु' कुन्दानां शालासु 'गुल्माः' स्तम्बाः 'मरकतमहादण्डसचामराणां शोभां भेजुः' मरकतस्य महादण्डे सन्तः–प्रशस्ताश्चामरास्तेषाम् । किंरूपा गुल्माः ? 'कुसुमिततमाः' अत्यर्थं संजातकुसुमाः । पुनः किंरूपाः ? वातेन उत्पावल्येन धूताः–कम्पिताः । शाखा मरकतदण्डाः, गुल्माः चामराः । अत्र उत्प्रेक्षानुप्रासोपमारूपकोपमानि ॥ ४ ॥

संक्रीडन्तः सुरसमभितो राजहंसाः सरस्सु
सार्धं रन्त प्रति परपुरं कच्यरो नु प्रवेत्याः ।
भृङ्गाभृङ्गान्तरमविरतं रक्तपुष्पायनार्थी
शीतां दधे दयितविजयपुण्यसाम्राज्यदामः ॥५॥

राजहंसाः सरस्सु 'प्राक्रीडन्त' प्रकर्षेण अक्रीडन् । किं कुर्वन्तः ? 'सुषमं' मनोज्ञं यथा भवति 'अभितः' समन्तात् 'संक्रीडन्तः' कूजन्तः, किंरूपा राजहंसाः ? 'नु' इति वितर्के अभियातान् कामनरेन्द्रस्य परपुरं प्रति 'प्रवेश्याः' प्रवेशे साधवः 'कम्बवः' शङ्खाः, अन्योऽपि राजा यदा परस्य वैरिणः पुरं प्रविशति तदा शङ्खा वाद्यन्ते, कामस्यापि परस्य-अन्यस्य पुरं-शरीरं प्रति प्रवेशे कूजन्तो राजहंसा एव शङ्खाः । 'ऋताम्' आद्याम् ऋतान्तरम् 'अभियती' अभिमुखं गच्छन्ती 'रक्ततुण्डायतालीं' रक्ततुण्डाः शुकास्तेषामायता दीर्घा आली-श्रेणिः 'दलकिसलयायुक्तमङ्गल्यदाम्नः' दलैः-पत्रैः किसलयैश्च यत् आयुक्तं बद्धं मङ्गल्यदाम वन्दनमालिका तस्य लीलां दधे । दलस्थानीया नीलवर्णाः शुकाः, पल्लवस्थानीयानि तेषामारक्तानि मुखानि, यदैकमाराद्याद्युड्डीय श्रेणिबद्धा नीलवर्णा आरक्तमुखाः शुकाः समकालमेव सहकारान्तरमभियान्ति तदा कामराजस्य परपुरं प्रति प्रवेशे वन्दनमालिकाशोभा भवति । संक्रीडन्त इत्यत्र कूजनार्थत्वात् परस्मैपदित्वे शतृप्रत्ययः, अन्यथा "क्रीडोऽकूजने" (सि० ३-३-३३) इति सूत्रेण संपूर्वकस्य क्रीडधातोरात्मनेपदित्वं स्यात् । प्राक्रीडन्तेति "क्रीडृ विहारे" प्र-आङ्पूर्वकः, "अन्वाङ्परेः" (सि० ३-३-३४) इत्यात्मनेपदम् । अभियती इत्यत्र "इणूक् गतौ" इ अभि एतीति वर्तमाने "शत्रा-" (सि० ५-२-२०) शतृप्रत्ययः अत्, "ह्निणोरप्विति व्यौ" (सि० ४-३-१५) (इति) यत्वम् । "अभिमअग्रय-" इति अपपाठः । अत्रोत्प्रेक्षानिदर्शनानुप्रासाः ॥ ५ ॥

ऊर्ध्वश्रुः प्रतिदिशमविस्पन्दमाकन्दनाग-
　स्कन्धारूढाः कलकलरवान् कोकिलाः कान्तकण्ठाः ।
संनह्यन्तं त्रिभुवनजये कामराजं जिगीषून्
　नग्नप्रष्ठा इव यतिभटान् धीरमाह्वानयन्तः ॥ ६ ॥

कोकिलाः 'प्रतिदिशं' दिशं दिशं प्रति उच्चैः 'कलकलरवान्' कलकलशब्दान् चक्रुः । किंरूपाः कोकिलाः ? अविरस्पन्दः—निश्चलो माकन्दनागः—सहकारवृक्षः तस्य स्कन्धं—प्रकाण्डं तत्रारूढाः । पुनः किं विशिष्टाः ? 'कान्तकण्ठाः' स्पष्टम् । पुनः किंरूपाः ? उत्प्रेक्ष्य-(क्ष्य)ते—यतय एव भटाः सुभटाः तान् 'धीरं' सावष्टम्भं यथा भवति आह्वानयन्तो 'नम्रप्रष्ठा इव' नम्राः—वन्दिनस्तेषु प्रष्ठाः—श्रेष्ठाः, सङ्ग्रामे हि बन्दिनो वंशपराक्रमादिवर्णनं कुर्वन्तः सुभटान् परस्परमुत्थापयन्ति । किंरूपा नम्रप्रष्ठाः ? 'अविस्पन्दमाकन्दनाग-स्कन्धारूढाः' न विद्यते विस्पन्दश्चलनं यस्याः साऽविस्पन्दा, अवि-स्पन्दाया निश्चलाया मायाः लक्ष्म्याः कन्दो यो नागो हस्ती तस्य स्कन्धमारूढाः । किंरूपान् यतिभटान् ? त्रिभुवनजये 'संनद्धान्' सज्जीभवन्तं कामराजं 'जिगीषून्' जेतुमिच्छून् । सर्वदिशासु सह-कारारूढाः कोकिलाः कलकलरवं कुर्वाणास्त्रिभुवनजयबद्धकक्षं कामराजं प्रति युद्धाय यतिभटानाकारयन्तो बन्दिन इवेत्यर्थः । दिश (श्)दिशा शब्दद्वयं । अत्रोत्प्रेक्षारूपकोदात्तानुप्रासाः ॥ ६ ॥

किञ्चित्प्रेक्ष्या दरविकसितेष्वार्तवेषु प्रसूने-
 ष्वन्तर्गूढाः शुशुभुरभितः पिञ्जराः केसरात्यः ।
शाखोद्दण्डेष्विव तनुभुवो वीरतूणीरकेषु
 क्षिप्ता दीप्ता विशिखविसराः कान्तकल्याणपुङ्खाः ॥ ७ ॥

'अभितः' समन्तात् 'दरविकसितेषु' ईषद्विकसितेषु आर्तवेषु प्रसूनेषु 'पिञ्जराः' पिङ्गाः केसरात्यः शुशुभुः । येषां पुष्पाणामृतुः प्राप्तो भवति तानि आर्तवानि तेषु । किंरूपाः केसरात्यः ? 'किञ्चित्' अल्पमात्रं 'प्रेक्ष्याः' दृश्याः 'अन्तः' मध्ये 'गूढाः' गुप्ताः । उत्प्रेक्ष्य(क्ष्य)-ते—'तनुभुवः' कामस्य 'वीरतूणीरकेषु' वीरनिषङ्गेषु क्षिप्ताः 'विशिखविसराः' बाणसमूहा इव । कुसुमानि तूणीराः, केसरश्रेणी सरलधर्मत्वाद्बाणावलिः । किंरूपेषु वीरतूणीरकेषु ? शाखासु उद्दण्डा

स्तवकगिमाग्रेषु । किंविशिष्टा विशिखविसराः ? दीप्ताः । पुनः कथंभूताः ? कान्ताः–मनोज्ञाः कल्याणस्य–सुवर्णस्य पुङ्खा येषां ते । यथा शाणायसगिलेषु तूणीरेषु मध्ये शुभ्रा किञ्चित्प्रकटा सुवर्णपुङ्खा शरावलिर्भवति तथा कुसुमेषु केसरावलिः संभाव्यते । करनुः प्राप्तोऽस्मीयामिति आर्तवानि "कल्यादेरण्" ("कल्यादिभ्योऽण्") (सि० ५–४–१२५) अण्प्रत्ययः । अत्र परिकरोत्प्रेक्षाऽनुप्रासः ॥ ७ ॥

> अग्रे तीक्ष्णं क्रमपृथु ततो नीलपत्रैः परीतं
> पुष्पव्रातं दधुरभिनवं केतकीनां कलापाः ।
> कोशक्षिप्तं कनककपिशं पत्रपालासिपुत्री-
> प्रत्यास्त्राणां समुदयमिवानङ्गराजस्य जिष्णोः ॥ ८ ॥

'केतकीनां कलापाः' समूहा अभिनवं पुष्पव्रातं दधुः । किंरूपम् ? अग्रे मुखे तीक्ष्णम्, 'ततः' तदनन्तरं क्रमेण पृथु विस्तीर्णं नीलपत्रैः 'परीतं' वेष्टितम् । पुनः किंरूपम् ? उत्प्रेक्ष्यते—'जिष्णोः' जयनशीलस्य अनङ्गराजस्य 'पत्रपालासिपुत्रीप्रत्यास्त्राणाम्' पत्रपालो दीर्घानक्षीपटासंज्ञकः असिपुत्री–छुरी सन्मुखशस्त्राणां समुदयमिव । किंरूपम् ? कोशे क्षिप्तं–स्थापितं कनकवत् कपिशं-पिङ्गम् । मुखे तीक्ष्णानि क्रमेण विस्तीर्णानि नीलपत्रवेष्टितानि केतकीदलानि कामस्य पत्ररूपकोशे क्षिप्तानि मुखे तीक्ष्णानि क्रमाद्विस्तीर्णानि कनकपिञ्जराणि पत्रपालछुरीमुख्यशस्त्राणीव भान्तीत्यर्थः । अत्रोत्प्रेक्षारूपकानुप्रासाः ॥ ८ ॥

> मूले मूले सरलशिखरिस्कन्धमाश्लिष्टवत्यो
> मध्ये पुष्पस्तबकविनताः पौरकेषु प्रतत्यः ।
> आमोदेनापतमधुकरश्रेणिभिः श्रीयमाणाः
> प्रापुः पूर्णां सशरमदनाधिज्यधन्वप्रतिष्ठाम् ॥ ९ ॥

'पौरकेषु' गृहारामेषु 'प्रतत्यः' वल्लयः पूर्णां 'सशरमदनाधिज्य-

धन्वप्रतिष्ठां प्रापुः' शरेण बाणेन सह वर्तते इति सशरम्, अध्यारोपिता ज्या–प्रत्यञ्चा यत्र तद् अधिज्यम्, अधिज्यं च तद् धन्व च अधिज्यधन्व, मदनस्य अधिज्यधन्व मदनाधिज्यधन्व, पश्चात् सशरेण कर्मधारयः, तस्य प्रतिष्ठा सशरमदनाधिज्यधन्वप्रतिष्ठा ताम् । किंरूपा सत्यः ? 'मूलौ' शिरसि 'मूले' आदौ सरलं शिरःशिरः–वृक्षस्य स्कन्धं–प्रकाण्डम् 'आश्लिष्टवत्यः' आलिङ्गितवत्यः, मध्ये पुष्पाणां स्तबकेन 'विनताः' नम्राः 'आमोदेन' परिमलेन 'आयतमधुकरश्रेणिभिः श्रीयमाणाः' इत्यादि स्पष्टम् । अतोऽन्ते आदौ च वृक्षस्कन्धं श्लिष्टा अन्तः पुष्पस्तबकनम्राः धनुःस्थानीया वल्ल्यः, दाररूपा भ्रमरश्रेणीत्यर्थः । अत्र निदर्शनाऽनुप्रासौ ॥ ९ ॥

मूर्ध्नि श्लिष्टभ्रमरपटलैः कृतशीर्षण्यरक्षाः
शाखाबाहाविधूतफलकाः कञ्चुवल्कवेषाः ।
पत्राङ्कुरैः पुलकिततमाः मारधर्मप्रकाण्डाः
फीरारावैः किलिकिलिकृतो भेजिरे जर्णयोधाः ॥१०॥

'जर्णयोधाः' वृक्षभटाः 'भेजिरे' राजिताः, अधिकारात् कामराजमन्येति ज्ञेयम् । किंरूपाः ? 'मूर्ध्नि' शिरसि 'श्लिष्टभ्रमरपटलैः' संबद्धभ्रमरसमूहैः कृता–रचिता शीर्षण्येन–शिरस्त्राणेन रक्षा यैस्ते, सुभटानां शीर्षे शिरस्त्राणो भवति, संबद्धानि भ्रमरपटलान्येव लोहमयं शिरस्त्राणम् । पुनः किंरूपाः ? शाखा एव बाहास्ताभिः विधूतानि फलानि यैस्ते शाखाबाहाविधूतफलकाः, योधास्तु शाखा इव दीर्घा बाहवः शाखाबाहास्ताभिर्विधूतानि फलकानि आवरणानि यैस्ते । कञ्चुकः कवचः वल्कलम्, वल्कस्य वेशो येषु ते । पत्राण्येव अङ्कुराः पत्राङ्कुरास्तैः करणैः पुलकिताः पुलकिततमाः । मारः शिरो धर्मः क्रमानो यस्य तत् मारधर्म प्रकाण्डं येषां ते, योधपक्षे मारं धर्म–धनुः प्राप्ति–मुख्यं येषां "भारो होऽस्त्राशयः" (अभि० ३-२-७६) इति वचनात् मारधर्मकाः, एवंविधाः

कम्पताः–हस्त दैर्घ्यं ते । शीतार्ता–तुषारार्ताः आतपैः–तापैः 'विविधविशिखताः' विशिखित्रि कुर्वन्तीति विशिखित्रिकृताः । अतो इत्थं तत्र कालस्य बोधा [illegible] आर्तीयसे । बहुल इत्यत्रापि ''बहोः लिपद्०'' (सि० ३-४-२५) लिपत्, अप्रत्ययः, बहुल-वर्णेन वर्णनीये (शरन्मरुदः) । अत्र निदर्शनालङ्कारः ॥ १० ॥

मन्दं मन्दं तपति तपनस्यातपे यत्प्रतापः
प्रापत् शोषं विषमविशिखस्येति चित्रीयते न ।
चित्रं त्वेतत्स्फुरदमलतां मण्डले शीतरश्मे-
र्भेजानोऽन्तःकरणशरणं रागमापूपुषद्यत् ॥ ११ ॥

यद् 'विषमविशिखस्य' कामस्य प्रतापः 'तपनस्य' सूर्यस्य आतपे तपति सति मन्दं मन्दं शोषं प्रापत् इति न चित्रीयते–चित्रं न करोति, यद् शैशवेऽपि आतपो मन्दं मन्दं तपन् शोषं प्राप, कामस्यापि प्रतापः शोषं प्राप । 'तु' पुनः एतत् 'चित्रम्' आश्चर्यं यत् 'शीतरश्मेः' चन्द्रस्य मण्डले 'अमलताम्' निर्मलतां भजन् सन् स्फूर्तो 'अन्तःकरणशरणम्' चित्तस्थानं रागं 'आपूपुषत्' वर्धयति स्म, चन्द्रमण्डले स्वयं निर्मलत्वं भजति, स्फूर्तो चित्ते रागं वर्धयति सचित्रम् । आपूपुषत् ''पुषण् धारणे'' आङ्पूर्वः ''चुरादिभ्यो णिच्'' (सि० ३-४-१७) इति । अत्र समाधिः आक्षेपो विषमोऽनुप्रासश्च, तत्र ''निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया । वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ॥'' (का० प्र० १०, १०६) इति । ''गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये । क्रमेण च विरुद्धे यत्स एष विषमो मतः ॥'' (का० प्र० १०,१२७) इति चित्रीयते नेत्यादि आक्षेपः, चित्रं त्वेत्यादि विषमः ॥ ११ ॥

इत्थं तत्र प्रभवति ऋतौ पर्वतापद्व्यपेतः-
प्रीतिः शान्तःपुरपरिजनोऽन्येद्युरुद्यानदेशम् ।

सर्वोत्मर्द्धाधिकरुचिरगात् सिन्धुरस्कन्धमध्या-
रूढेनामा भुवनपतिना नेमिना तार्क्ष्यलक्ष्मा ॥ १२ ॥

'अन्येद्युः' अन्यदिने 'सान्तःपुरपरिजनः' अन्तःपुरपरिवार-युक्तः 'तार्क्ष्यलक्ष्मा' कृष्णो नेमिना भुवनपतिना 'अमा' सह उद्यानदेशमगात्। क सति? 'तत्र' उद्यानदेशे 'मधौ' वसन्ते, 'इत्थम्' अमुना पूर्वोक्तप्रकारेण 'प्रभवति' फलपुष्पलतावृक्षादि-समृद्ध्या समर्थीभवति सति, किंभूतस्तार्क्ष्यलक्ष्मा? 'तर्कर्रेण-क्रीडया आयद्धा चेतसः—चित्तस्य प्रीतिर्यस्य स तर्क०। पुनः किं-रूपः? 'सर्वोत्मर्द्धा' समस्तगजरथतुरङ्गच्छत्रचामरशृङ्गारादिली-यसमृद्ध्याऽधिका रुचिर्दीप्तिर्यस्य। किंविशिष्टेन नेमिना? सिन्धु-रस्य—गजस्य स्कन्धमध्यारूढेन, एतावता वसन्तेन पुष्पफलादिना सश्रीकं क्रीडायनं गजारूढेन श्रीनेमिना सह श्रीकृष्णः सपरिवारः क्रीडितुमगादित्यर्थः। अत्र परिकरानुप्रासस्वभावोक्तयः ॥ १२ ॥

तत्रापाचीपवनलहरीलोलमौलिप्रदेशान्
नानासालान् सरसविकसन्मञ्जरीपिञ्जराग्रान्।
नेमेर्नव्ये वयसि वशितां वीक्ष्य चित्रस्मितास्यान्
संधुन्वानानिव परि शिरस्तौ क्षणं प्रैक्षिपाताम् ॥ १३ ॥

('तौ') श्रीनेमिकृष्णौ 'तत्र' उद्याने 'नानासालान्' विविध-वृक्षान् क्षणं 'प्रैक्षिपाताम्' अपश्यताम्। किंरूपान्? 'अपाची०' अपाची दक्षिणा तस्याः पवनलहरीभिर्लोलाश्चञ्चला मौलिप्रदेशाः शिखरप्रदेशा येषां ते तान्। पुनः किंरूपान्? 'सरस०' सरसा-भिर्विकसिताभिर्मञ्जरीभिः पिञ्जरमग्रं येषां तान्। अथ चञ्चल-त्वेऽपि विकसितत्वेऽपि (च) कारणान्तरं संभावयन्नाह—उत्प्रे-क्ष्यते—नेमेः 'नव्ये वयसि' यौवने 'वशितां' जितेन्द्रियतां वीक्ष्य 'परि' समन्तात् 'शिरः' शीर्षं संधुन्वानानिव। किंरूपान्? चित्रेण आश्चर्येण स्मितं विकसितं आस्यं मुखं येषां तान्। अन्योऽपि किमप्य-

ताभ्यां तत्र प्रसवजरजःकुङ्कुमस्यन्दलिप्ता
नानावर्णच्छदनिवसना प्रैक्षि वानेयलक्ष्मीः ॥ १५ ॥

'तत्र' उद्याने 'ताभ्यां' श्रीनेमिकृष्णाभ्यां 'वानेयलक्ष्मीः' 'प्रैक्षि' ददृशे। वने भवा वनस्येयं वा वानेयी, वानेयी चासौ लक्ष्मीश्च वानेयलक्ष्मीः, "पुंवत्कर्मधारये" (सि० ३-२-५७) पुंवद्भावः। किंरूपा वानेयलक्ष्मीः? 'ताराचारिभ्रमरनयनलसद्दीर्घिकास्या' तारावत् कनीनिकावत् चारिणः चरणशीला भ्रमरा येषु तानि, नयनानीवाचरन्ति नयनन्ति, ताराचारिभ्रमराणि तानि च नयनन्ति पद्मानि विलसन्ति यस्यां सा ताराचारिभ्रमरनयनलसद्वती, एवंविधा दीर्घिका एव आस्यं मुखं यस्याः सा, अत्रापि "पुंवत्कर्मधारये" (सि० ३-२-५७) इति पद्मवत्याः पद्मवदिति पुंवद्भावः। दीर्घिका मुखं, तस्यां कमलानि लोचनानि, तेषु भ्रमराः कनीनिका इत्यर्थः। किञ्चिद् ईषद् हास्यप्रायविताणि सितानि-श्वेतानि सुमानि-कुसुमानि यस्यां सा। शुक्लिका एव व्यक्तः स्पष्टो रागो यस्याः सा। पुनः किंभूता? 'प्रसवजरजःकुङ्कुमस्यन्दलिप्ता' प्रसवेभ्यः-पुष्पेभ्यो जायते तत् प्रसवजम्, रजः-किञ्जल्कः तदेव कुङ्कुमम् स्यन्दः-रसस्तेन लिप्ता-उपलिप्ता। नानावर्णानि छदनानि-पत्राण्येव वसनं वस्त्रं यस्याः सा। लिप्तेत्यत्र "क्तात्वे" (सि० २-४-४५) इति वा। अत्र रूपकोपमानादिकरणमालोत्तरः। वानेयेति "नद्यादेरेयण्" (सि० ६-३-२) एयण् प्रत्ययः ॥ १५ ॥

रत्नार्चिष्मी मुरारिपृष्ठ्यान्दोलनादौ सदेते
धीरं धन्वी स्थिरयति तथा कामभूमिष्ठते च ।
कङ्गेर्मिः स्मितमति यथा स्पर्शदीर्घिकाया:
र्थाङ्गनुम्या निजयुवयले गाहयामास गोपीः ॥ १६ ॥

'अथ' अनन्तरं 'मुरारिपुः' कृष्णः 'तथा' तेन प्रकारेण 'आन्दोलनादौ' दीर्घिकायां 'चारं' अनर्थम् 'गोपिनो' तर्हि स्वतो यथा

व । क सति ? 'वीरे बन्धौ' श्रीनेमीशे 'सदेशे' समीपे स्थितवति सति । किंरूपो मुररिपुः ? 'रत्या' रागेण आक्षिप्तः, पक्षे रतिः कन्दर्पभार्या तयाऽऽक्षिप्तो वशीकृतः । 'यथा' येन प्रकारेण 'वीरोत्तंसः' सुभटमुकुटः 'श्रीसूनुः' कामः ना गोपीः स्मितमति यथा भवति निजभुजबलं गापयामास । किंरूपा गोपीः ? 'दृब्धहल्लीसकस्थाः' दृब्धं रचितं हल्लीसकं स्त्रीनाट्यं तत्र तिष्ठन्तीति । स्मिते हास्ये मतिर्यस्य सत् स्मितमति, अयमर्थः—यत् विभेकर्वारे श्रीनेमीश्वरे समोपस्थेऽपि मद्भार्ययाऽबलयाऽपि श्रीकृष्ण आश्लिष्टस्तत् तत्क्रीडासु प्रागल्भ्यं, अतः कामवीरो गर्वाद् हसन् हल्लीसकस्था गोपीः स्वदोर्बलं गापयामास । उत्तिष्ठते स्मेति "उदोऽनूर्ध्वेहे" (सि० ३–३–६२) इत्यात्मनेपदम् । अत्र रत्या इति, वीरे इति, वीरोत्तंस इति, अद्भुतरसव्यञ्जकानि । "मण्डलेन तु यन्नृत्तं स्त्रीणां हल्लीसकं हि तत्" (अ० चि० कां० २ श्लो० १९५) । अत्र काव्यलिङ्गपर्यायोक्तानुप्रासाः ॥ १६ ॥

प्रेमाधिक्यात्प्रतितरु हरिः पुष्पपूरप्रचायं
कृत्वा नेमिं स्वयमुपचरन् सत्यभामादिभार्याः ।
भ्रूविक्षेपं समदमनुदत्तत्र कृत्ये तदानीं
श्रेयोदृष्टिं हिमरुचिरिवानेहसं प्रेयसीः स्वाः ॥ १७ ॥

'हरिः' कृष्णः सत्यभामादिभार्याः तदानीं 'तत्र कृत्ये' उपचारकृत्ये भ्रूविक्षेपं समदं यथा भवति 'अनुदत्' प्रेरयामास, भ्रूसंज्ञयाऽन्तःपुर्यः प्रेरिता इत्यर्थः । किं कुर्वन् ? 'प्रेमाधिक्यात्' स्नेहाधिक्यात् 'प्रतितरु' वृक्षं वृक्षं प्रति पुष्पपूरप्रचायं कृत्वा 'स्वयं' आत्मना 'नेमिम्-उपचरन्' प्रतिवृक्षं हस्तप्राप्याणि पुष्पाण्यवचित्य स्वयं शिरउरःकर्णादिषु निवेशनेन नेमिं सम्मानयन्नित्यर्थः । किंविशिष्टं नेमिम् ? श्रेयसी–कल्याणी दृष्टिः—दृग् यस्य अथवा श्रेयसि पुण्ये शुभे वा दृष्टिर्ज्ञानं यस्य । क इव ? 'हिमरुचिरिव' चन्द्र इव, यथा हिमरुचिश्चन्द्रः स्वयम् 'अनेहसं' कालं उपचरन् स्वाः

प्रेयसी रोहिण्याद्याः 'तत्र कृत्ये' कालोपचारलक्षणे प्रेरयति, चन्द्रस हि नक्षत्रराशिसंचारेण कालस्य शुभाशुभपरिणामः, तथाहि—चन्द्रस्य नानाकारोद्गमा राशिषु शुभाशुभसूचकाः, यथा—"अलिसिंहे धनुर्वक्रः, शूलाभः कन्यकातुले । दक्षिणाभ्युन्नतो मीन-मेषे कुम्भवृषे समः ॥ १ ॥ मिथुने मकरे चोत्त-रोन्नतोऽथ हलोपमः । धनुः कर्के रवौ श्लाघ्यो नवेन्दुरशुभोऽन्यथा ॥ २ ॥ विड्वरं स्यात्समे चन्द्रे, सुभिक्षं दक्षिणोन्नते । ईतिराजभयं शूले, दुर्भिक्षं दक्षिणोन्नते ॥ ३ ॥ कृष्णे चन्द्रे भवेन्मृत्युः, पीते व्याधिसमागमः । रक्ते रसाः क्षयं यान्ति, श्वेते वृष्टिः प्रकीर्तिता ॥ ४ ॥" इत्यादि, नक्षत्रयोगा अपि धनिष्ठापञ्चकाद्याः तस्मिँस्तस्मिन्मासे दिने च शुभाशुभवृष्ट्यवृष्टिसूचकाः ख्याता वर्तन्ते । किंरूपमेनं इसम् ? प्रेयसो दृष्टिर्दर्शनं यस्मिन् तं श्रेयोदृष्टिं कल्याणसूचकम्, यथा चन्द्रो राशिसंचारेण शीतातपवृष्ट्यादिगर्भपरिणामात्कालमुपचरन् रोहिण्यादिनक्षत्राणि तथा प्रेरयति, कृष्णोऽपि स्वयं श्रीनेमिमुपचरन् स्वप्रिया अपि तत्र कृत्ये प्रेरयामासेत्यर्थः । पुष्पपूरप्रचायमित्यत्र पुष्पाणां पूरः पुष्पपूरः, हस्तप्राप्यस्य पुष्पपूरस्य प्रचयनं पुष्पपूरप्रचायः, "हस्तप्राप्ये चेरस्तेये" (सि० ५-३-७८) अनेन घञ्प्रत्ययः, हस्तप्राप्यत्वाभावे तु प्रचय एव भवति । भुवो विशिष्य भूविशेषम् "ख्याङ्गनाभुवेण" (सि० ५-४-७९) इति णम् प्रत्ययः । अत्रोदात्तदृष्टान्तानुप्रासाः ॥ १७ ॥

साधानङ्गं पतुरनिद्दुतं गूढमार्गं प्रपानं
　मण्डूर राध्ये प्रहृति पुरहे चापजानेऽपि जाने ।
तथाजय्यं त्रिभुवनपवनानप्रभूष्णुं दर्शितो-
　पातेहत्वा लघु चयतिरे त्रिभुवनस्योऽनमि नेमिम् ॥१८॥

'स' अन्यत्र 'ताः' 'त्रिभुवनस्य' कृष्णागमःपुर्यो नेमिमपि 'लघु' शीघ्रं वर्तति । किं कृत्वा ? 'अनङ्गं' कामं दर्शन 'पातेहत्वा'

भग्नं संपाद । किंरूपमनङ्गम्? पशुपतिना–ईश्वरेण दग्ध पीडितम्, पुनः किंरूपम्? 'गूढमार्गे' मनसि 'शयानं' मनसि कृतविश्रामं मनोयोनित्वात्संबन्धयोनित्वात्, अन्योऽपि यः पीडितः वैरादपि भवति स गूढे मन्दके मार्गे शेते । पुनः किंरूपम्? तम् 'भल्ल्ये' अनुसन्धाय 'त्रिभुवनपतौ' श्रीनेमीशे 'अप्रभूष्णुं' असमर्थम्। क सति? 'मधुः' वसन्तस्य नामे जयति सति । पुनः क सति? 'च' अन्यत् 'पुरदे' प्रभूते 'अस्त्रजाते' शस्त्रसमूहे 'जातेऽपि' निष्फलेऽपि । कामस्यास्त्राणि पुष्पाणि तेषु सत्स्वपि निष्फलेष्वित्यर्थः, तस्माद्रूपं कामं दृष्टेव सज्जीकृत्य कृष्णान्तःपुर्यो नेमीशं प्रति चलिता इत्यर्थः । उपाजेकृत्येति "उपाजेऽन्वाजे" (सि० ३-१-१२) इति सूत्रेण विकल्पेन गतिसंज्ञा । अत्र पर्यायोक्तविशेषोक्तिविशेषश्लेषानुप्रासाः । एतावताऽर्थेन स्वामिनो निर्विकारत्वं तासां च कामविवर्धकत्वं सूचितमिति पर्यायोक्तम् । वसन्तस्य जयहेतुवसन्तपुष्पायुधादिकारणयोगेऽपि स्वामिनं प्रति जयानुकार्यानुत्पत्तिरिति विशेषोक्तिः, स्वामिनं प्रति कृतनतियां युवतीभिस्ताभिः कामस्य भग्नसंधानमशक्यं कृतमिति विशेष.. "अन्यत्प्रकुर्वतः कार्य–मशक्यस्याप्यवस्तुनः । तथैव करणं चेति, विशेषस्त्रिविधः स्मृतः।" (का० प्र० १०, १२६) अतिशयोक्तिश्च ॥ १८ ॥

अथ ताः श्रीनेमिनं नानाक्रीडाभिर्यथा क्रीडयन्तीति तदाह—

काचिच्चञ्चत्परिमलमिलल्लोलरोलम्बमालां
मालां बालारुणकिशलयैः सर्वसूनैश्च क्लृप्ताम् ।
नेमेः कण्ठे न्यधित स तया चाद्रिमिवापयद्या
रेजे स्निग्धच्छविशितितनुः शाङ्गपेण्यो यथा त्वम् ॥१९॥

'काचित्' कृष्णपत्नी नेमेः कण्ठे मालां 'न्यधित' न्यस्तवती । किंरूपां मालाम्? चञ्चत्परिमलमिलल्लोलरोलम्बमालां येटम्बा भ्रमराः। पुनः किंरूपाम्? बालारुणकिशलयैः 'च' अन्यत् सर्वसूनैः क्लृप्तां-

सूनानि–कुसुमानि। 'च' अन्यत् 'सः' भगवान् 'तया' मालया रेजे यथा 'प्रावृषेण्यः' वर्षाभवः त्वम् अद्रिभित्–इन्द्रः तस्य चापयष्टिः–धनुर्यष्टिः तया राजसे। किंरूपो भगवान् त्वं च ? 'स्निग्धच्छविशितितनुः' शितिः–श्यामा, शेषं स्पष्टम्। अत्र परिकरदृष्टान्तानुप्रासाः। घ्राणतर्पिपरिमलेत्यादिविशेषणानि मालाया इन्द्रधनुःसादृश्याय पञ्चवर्णत्वस्यापकानीति परिकरः॥ १९॥

श्रीखण्डस्य द्रवनवलवैर्नर्मकर्माणि विन्दु-
बिन्दून्न्यासं वपुषि विमले पत्रवल्लीर्लिलेख।
पौष्पापीडं व्यधित च परा वासरे तारतारा-
सारं गर्भस्थितशशधरं व्योम संदर्शयन्ती॥ २०॥

'परा' अन्या हरिवल्लभा, नेमेरिति पूर्वकाव्यस्थमधिकारादत्र लभ्यते, नेमेः विमले 'वपुषि' शरीरे पत्रवल्लीर्लिलेख। किं कृत्वा ? श्रीखण्डस्य 'द्रवनवलवैः' द्रवः–रसस्तस्य नवलवैः बिन्दून् न्यासं रचयित्वा। किंभूता सा ? नर्मकर्माणि 'विन्दुः' वेत्तीति वेदनशीला। 'च' अन्यत् 'पौष्पापीडं' पुष्पसंबन्धि मुकुटं व्यधित। किं कुर्वती ? 'वासरे' दिवसे 'तारतारासारं' ताराभिः–मनोज्ञाभिः ताराभिः–तारकाभिः सारं 'गर्भस्थितशशधरं' मध्यस्थितचन्द्रं 'व्योम' आकाशं संदर्शयन्ती, अहो जनाः! दिवसे तारकचन्द्रसहितं नभः पश्यतेति। भगवद्वपुः श्यामवर्णं नभः, श्रीखण्डबिन्दवः ताराः, पुष्पमुकुटः चन्द्रः। वेत्तीति विन्दुः "विन्द्विच्छू" (सि०५-२-३४) उप्रत्ययः, विन्दुनिपातः। अत्र निदर्शनानुप्रासौ २०

अन्या लोकोत्तर! ननुमता रागपाशेन बद्धो
मोक्षं गाता कथमिति? मितं सस्मितं भाषमाणा।
व्यक्तं रक्तोत्पलविरचितेनैव दाम्ना कटीरे
कार्श्यव्याजात्प्रकृतिरिव तं घेननेशं बबन्ध॥ २१॥

'अन्या' काचिद् हरिप्रिया 'व्यक्तं' प्रकटं रक्तोत्पलविरचिते-

नैव 'दाम्ना' मालया 'काञ्चीव्याजात्' मेखलामिषात् कटीरे 'त्वं' भगवन्तं बधान रक्तोत्पलमयीं मेखलां तस्य कटीतटे बधानेत्यर्थः । किं कुर्वाणा ? इति 'मितं' स्तोकं 'भणितं' सहास्यं भाषमाणा । इतीति किम् ? हे लोकोत्तर ! 'तनुमता' मूर्तिमता रागपाशेन बद्धः सन् मोक्षं 'कथं गामी ?' कथं गच्छसि ?, अन्योऽपि यः पाशेन बद्धः स्यात् स कथं याति ? इति त्वमप्यनेन रागपाशेन बद्धो मोक्षं गन्तुं कथं शक्ष्यसि ? इत्यन्योक्तिः । किंरूपं त्वम् ? 'चेतनेशं' चेतनाः-आत्मानस्तेषां ईशं चेतनेशम्, केव ? 'प्रकृतिरिव' यथा प्रकृतिश्चेतनेशमात्मानं बध्नाति चेतना ज्ञानकला तथा ईशमात्मानमिति । अत्र काव्यलिङ्गसमासोक्तिरूपकापह्नुत्युपमानानि ॥ २१ ॥

काचिद्वामा जलद ! पिदधे चन्दनस्यन्दसिक्तैः
पक्ष्मिन्यस्तैः सरसकुसुमैर्दक्षमुख्यस्य वक्षः ।
कामोन्मुक्तैरिव जगदुरो विध्यमानैरखण्डैः
काण्डैर्भेत्तुं तदलमनलंभूष्णुभावाद्बहिःस्थैः ॥ २२ ॥

हे जलद ! काचित् 'वामा' स्त्री 'दक्षमुख्यस्य' श्रीनेमिनः 'वक्षः' हृदयं 'पक्ष्मिन्यस्तैः' श्रेणिरचितैः सरसकुसुमैः 'पिदधे' आच्छादितवती । किंरूपैः सरसकुसुमैः ? चन्दनस्य स्यन्देन रसेन सिक्तैः । उत्प्रेक्ष्यते-कामोन्मुक्तैरखण्डैः 'काण्डैः' बाणैरिव । किंरूपैः काण्डैः ? 'जगदुरः' विश्वहृदयं विध्यमानैः । पुनः किंरूपैः ? 'तत्' श्रीनेमिहृदयं भेत्तुमलमत्यर्थम् 'अनलंभूष्णुभावात्' असमर्थत्वात् 'बहिःस्थैः' बहिःस्थितैः । एतानि कुसुमानि कामस्य बाणा जगतो हृदयं विध्यन्तोऽपि भगवतो हृदयं भेत्तुं न शक्नुवन्तीति बहिः स्थिताः । पिदधे इत्यत्र "वाऽवाप्योस्तनिक्रीधाग्नहोर्वपी" (सि० ३-२-१५६) अनेनापेरकारलोपः । विध्यमानैरित्यत्र 'व्यधंच्' ताडने विध्यन्तीत्येवंशक्त्या विध्यमानाः, "वयःशक्तिशीले" (सि० ५-२-२४) इति शानप्रत्ययः, अः "दि-

वारेः ष्यः" (सि० ३-४-७२) ष्यप्रत्ययः, "ज्याव्यधः क्ङिति" (सि० ४-१-८१) य्वृत्, "अतो म आने" (सि० ४-४-११४) मोऽन्त इति । अत्रोत्प्रेक्षाऽनुप्रासौ ॥ २२ ॥

पौष्पापीडः शितिशतदलैः कॢप्तकर्णावतंसः
कण्ठन्यञ्चद्विचकिलुलन्मालभारी सलीलम् ।
सत्केयूरो बकुलवलयः पद्मिनीतन्तुवेढी
रेजे मूर्तान्प्रति मम पतिः पुष्पितात्पारिजातात् ॥२३॥

हे मेघ ! मम पतिर्मूर्तात् 'पुष्पितात् पारिजातात् प्रति रेजे' पुष्पितस्य पारिजातस्य कल्पवृक्षस्य सदृशो राजते स्मेत्यर्थः । किम्भूतः पतिः ? 'पौष्पापीडः' पुष्पसंबन्धी आपीडो मुकुटो यस्य सः । (तथा) 'शितिशतदलैः' शितानि श्यामानि शतदलानि कमलानि तैः कॢप्तो रचितः कर्णावतंसः कर्णाभरणं यस्य, सलीलं यथा भवति 'कण्ठन्यञ्चद्विचकिलुलन्मालभारी' कण्ठे न्यञ्चन्ती नम्रीभवन्ती विचकिलो मल्लिका तस्या (स्य) लुलन्ती लुठन्ती मालां बिभर्ति (भर्ति) त्येवंशीलः, "अजातेः शीले" (सि० ५-१-१५४) णिन्, "मालेषीकेष्टकस्यान्तेऽपि भारितूलचिते" (सि० २-४-१०२) इति मालाया ह्रस्वः । पुनः किम्भूतः ? 'सत्केयूरः' सन्ति विचक्षणस्य संबन्धिनी केयूरे यस्य, (तथा) बकुलाः केसराः तत्सम्बन्धीनि वलयानि यस्य, (तथा) पद्मिनीतन्तुमयी वेढी मुद्रिका यस्य सः । एवं सर्वाङ्गेषु सर्वाभरणस्थानेषु पुष्पादिविभूषितत्वात्पूर्णः पुष्पितः पारिजात इव भगवान् राजते स्मेत्यर्थः । [illegible] "यतः प्रतिनिधिप्रतिदाने प्रतिना" (सि० २-२-७२) इत्यनेन प्रतिनिधियोगे प्रतिना योगे पञ्चमी, प्रतिनिधिर्मुख्यसदृशोऽभिधीयते । अत्र निदर्शनापरिकरानुप्रासाः ॥ २३ ॥

धन्या मन्ये जलद ! [illegible] स पार्थि-
रेणुः [illegible] ।

कल्याऽद्य पुनरियमहं मन्दभाग्या सिपेली
या तस्यैवं स्मरणमपि हा ! मूर्छनाम्ना लभे न ॥ २४ ॥

हे जलधर ! अहं 'हरेरेव' कृष्णस्यैव भार्या धन्या मन्ये, याभिः 'हरः' भगवान् 'परिजनमनश्छन्दवृत्त्याऽपि' परिवारमनोऽभिप्रायेणापि 'खेलन्' क्रीडन् 'दृग्भिः' लोचनैः दृष्टः । यतः स्वामी ज्ञानत्रयसमन्वितः परमब्रह्मचर्यादरो गार्हस्थ्योऽपि क्रीडायाम-(गृहस्थोऽपि क्रीडाम) निष्ठुरेव, परं परिवारप्रीत्यै क्रीडादिकं करोतीति । पुनरियमहं 'कल्याऽद्य' कुतो हेतोर्जाता ? इयमित्यनेन मानसमलक्षेणात्मानं पुरः पश्यन्तीव परेभ्यो हीनत्वेन पृथक् करोति । किंरूपाऽहम् ? मन्दभाग्या । पुनः किंरूपा ? 'सिपेली' निन्द्या स्त्री सिपेली । 'हा' इति खेदे । 'या' अहं 'एवं' अमुना प्रकारेण 'तस्य' भगवतः स्मरणमपि मूर्छनाम्ना न लभे यावत्स्मरणं करोमि तावन्मूर्छा समायातीत्यर्थः । सिपेलीति निन्द्या स्त्री सिपेली निन्द्या(न्द्या)वाची पेलट्-शब्दपुरः, दानुबन्धित्वात् "अणञेये०" (सि० २-४-२०) इति ङी, "नवैकस्वराणाम्" (सि० २-२-६६) इति ह्रस्वः । अत्र निदर्शनाऽऽक्षेपभाविका-नुमानपर्यायोक्ताः, यत्र निदर्शनालक्षणे अत्र प्रस्तुतप्रशंसा, धन्या मन्ये इति कस्मादिति (आक्षेपः) "निषेधो वक्तुमिष्टस्य, यो विशेषा-भिधित्सया । वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ॥" (का० प्र० १०-१०६) इति । तदाऽमूर्छिताऽपि यद्दं स्मरणं दुर्धरी मूर्छा प्राप्याम्येवेति भाविकम्, सर्वेष्वर्थेन ईप्सितार्थाधि-कयज्ञापनात् पर्यायोक्तम् ॥ २४ ॥

जल्पन्त्येवं पुनरपि नवीभूतशोकाब्धिमग्ना
तूष्णीभावं स्वतनुमथुचत् साश्रुवर्षं दशैव ।
सर्वं तावत् किमिति निगदन्त्यन्तरुद्यानिः
मेघं मेघं रुदमिव गुरुर्गोचिन्दवत्वाम् ॥ २

'सा' राजीमती एवं [illegible] सती पुनरपि '[illegible]' [illegible] । किं कृत्वा ? 'तूष्णीकां' [illegible] । किंरूपा ? '[illegible]' एवं [illegible] , यथा [illegible] । [illegible] 'मेघं' [illegible] । किं [illegible] ? [illegible] । किं कृत्वा ? '[illegible]' [illegible] 'मेघं मेघं' [illegible] । क इव ? 'सुहृदिव' यथा सुहृत् 'सत' [illegible] । [illegible] मूर्छया [illegible] । तूष्णीभवनं पूर्वं "तूष्णीका" (सि० ५-४-८७) इति अम् प्रत्ययः । मेघ मेघमिति [illegible] पूर्वं "[illegible]" (सि० ५-४-४८) इति [illegible] प्रत्ययः अम् इति । अत्र आत्युपमानुप्रासाः । मूर्छादिविप्रलम्भावस्थाः ॥ २५ ॥

अर्धोक्तायाः स्वचरितवतेः स्मरत्साऽथ सद्यः
संज्ञानत्यप्यनवहितधीर्व्युष्टसुप्तोत्थितेव ।
संपश्यन्ती विरहविवशा शून्यमाशाः कदाशा-
पाशामुक्ता सुदिरमुदितं पर्यभाषिष्ट भूयः ॥ २६ ॥

'अथ' अनन्तरं 'सा' राजीमती 'भूयः' पुनरपि उदिते 'मुदिरं' मेघं परि अभाषिष्ट । किंरूपा ? 'स्वचरितवतेः' स्वावदातपङ्क्तेः 'अर्धोक्तायाः' अर्धजल्पितायाः स्मरन् 'संज्ञानत्यपि' स्मरन्त्यपि, 'अनवहितधीः' अनवहिता—असावधाना धीर्यस्याः सा । उत्प्रेक्ष्यते—'व्युष्टसुप्तोत्थितेव' व्युष्टे प्रभाते सुप्ता चासौ उत्थिता च

सुप्तोत्थिता, यथा रात्रिजागरणात् प्रभाते सुप्तोत्थिताऽसावधाना स्यात् असंपूर्णनिद्रत्वात् । किं कुर्वती ? शून्यं यथा भवति 'आशाः' दिशः संपश्यन्ती । किंरूपा ? 'विरहविवशा' विरहविह्वला । पुनः किंरूपा ? कदाशा कुत्सिताऽऽशा वाञ्छा सैव पाशस्तेन आमुक्ता बद्धा । स्वचरितमतेरित्यत्र "स्मृत्यर्थदयेशः" (सि० २-२-११) इति षष्ठी । कदाशेति कुत्सिता आशा कदाशा "कोः कत्तत्पुरुषे" (सि० ३-२-१३०) इति कदादेशः । सुहृदिरमित्यत्र 'भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः' (सि० २-२-३७) इति द्वितीया । अत्रोपमानुप्रासजातिमङ्कराः ॥ २६ ॥

हंहो ! मोहस्खलितवचनां मेघ ! मा मामुपेक्षा-
पात्रं कार्षीर्न हि यदपरेवास्म्यनभ्याशमित्या ।
दुःखावस्थां विधिविलसितैः प्रापिता या विशेषात्
श्रोतव्याऽसौ तव मम कथा विश्वविश्वोपकर्तुः ॥ २७ ॥

हंहो मेघ ! त्वं मां उपेक्षापात्रं मा कार्षीः । किंरूपां माम् ? 'मोहस्खलितवचनां' मोहेन मूर्छया स्खलितं वचनं यस्याः सा ताम्, इयं जल्पन्ती स्खलिताऽतोऽस्या वचनं किं श्रूयते ? इत्ययं नोपेक्षणीया । यद् अहं 'अपरेव' हीनवादिनीव 'अनभ्याशमित्या नास्मि' अभ्याशं समीपम्, न अभ्याशं अनभ्याशम्, 'इण्क् गतौ' ईयते गम्यते इति इत्यं, "दृवृस्तुजुषेतिशासः" (सि० ५-१-४०) क्यप्प्रत्ययः, "ह्रस्वस्य तः पित्कृति" (सि० ४-४-११३) तोऽन्तः, ततोऽनभ्याशं दूरं इत्यं गन्तव्यमस्याः साऽनभ्याशमित्या, "ह्रोतकृणमध्यन्दिनानभ्याशमित्यम्" (सि० ३-२-११३) इति सूत्रेण मोऽन्तो निपातश्च, ततोऽयमर्थः— यस्माद्दूरे गम्यते यस्य समीपे न स्थीयते सोऽनभ्याशमित्यः, अहं त्वेवंविधा नास्मि, केव ? 'अपरेव' यथाऽपरा हीनवादिनी स्त्री एवंविधा स्यात्तथाऽहमेवंविधा नास्मि, मूर्छया स्खलित

परमप्रेमनं भूयो वक्ष्ये । अमी मम कथा तत्र विशेषतः श्रोतव्या । किंरूपाया मम ? विधिविलसितैर्दुःस्थावस्थां प्रापितायाः । किंविशिष्टस्य तव ? विश्वविश्वोपकर्तुः यः सकलजगत्परोपकारी स्यात्स दुःस्थवार्तां विशेषात् शृणोति । "कृत्यस्य वा" (सि० २-२-८८) अनेन सूत्रेण तवेति षष्ठी । अत्रोपमानुप्रासकाव्यलिङ्गाः ॥ २७ ॥

वासन्तीं तां श्रियमुपवने साधु निर्विश्य कान्तां
लोकप्रीणानणुगुणभृदप्यर्दितस्तस्य सख्या ।
क्लृप्ताकल्पस्तदिषुभिरुदाच्छिद्य रोषादिवात्तै-
र्विष्वक्सेनो न्यविशत पुरीं द्वारकां नेमिदृष्टिः ॥ २८ ॥

'विष्वक्सेनः' कृष्णो द्वारकां पुरीं 'न्यविशत' प्रविवेश । किं कृत्वा? 'उपवने' क्रीडावने तां 'वासन्तीं' वसन्तसत्कां 'कान्तां' मनोज्ञां श्रियं साधु यथा भवति 'निर्विश्य' भुक्त्वा, 'श्रियं' लक्ष्मीं 'कान्तां' प्रियां 'निर्विश्य' भुक्त्वा इत्यर्थान्तरं वाच्यम् । किंविशिष्टः ? 'तस्य' वसन्तस्य 'सख्या' कामेन अर्दितः । कदाचिन्निर्गुणो भविष्यतीत्याह—लोकप्रीणा लोकप्रीतिकारका अनणवो गुरवो ये गुणास्तान् बिभर्तीति । पुनः किंरूपः ? 'तदिषुभिः' तस्य कामस्य इषुभिः बाणैः कुसुमैः 'क्लृप्ताकल्पः' क्लृप्तो रचित आकल्पः शृङ्गारो येन सः । किंरूपैस्तदिषुभिः ? उत्प्रेक्ष्यते—रोषात् 'उदाच्छिद्य' उद्दाल्य 'आत्तैः' गृहीतैरिव । यत्कामेनाहं पीडितोऽतस्तेन कोपेन कुसुमरूपास्तद्बाणा उद्दाल्य गृहीताः । पुनः किंरूपो विष्वक्सेनः ? 'नेमिदृष्टिः' नेमौ श्रीनेमिनाथे दृष्टिर्यस्य सः । पक्षे नेमिश्चक्रधारा, अन्यस्यापि यस्य वैरिणा सह वैरं स्यात् तस्य दृष्टिः शस्त्रे भवतीति व्यक्तम् । इषुशब्दस्त्रिषु लिङ्गेषु वर्तते स्वतस्त्रिलिङ्गे "षष्ठिरेष्विषु" (हैमलिङ्गानुशासन ६ श्लो०) इति भणनात् । न्यविशतेति "निविशः" (सि० ३-३-२४) इत्यात्मनेपदमिति । श्लेषसमासोक्त्युत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ २८ ॥

मन्युर्दोषान् कुसुमधनुषः शान्तशत्रोरनिष्टे
सत्येतस्य स्वयमपगते पुष्पकाले ह्रियेव ।
आगान्नैव स्वपदमुपदीकर्तुमात्मोपशाय-
स्थायी भृत्यः समयगतिविन् सप्रतापस्तपोऽपि ॥ २९ ॥

'तपोऽपि' उष्णकालोऽपि स्वपदं उपदीकर्तुम् 'आगान्' आगतवान् । स्वपदमिति आत्मीयपदम् । किंरूपस्तपः ? उत्प्रेक्ष्यते–'आत्मोपशायस्थायी भृत्य इव' आत्मन उपशाये वारके तिष्ठतीत्येवंशीलः । राज्ञो हि भृत्या निजनिजवारके सेवार्थमागच्छन्ति । क्व सति ? 'पुष्पकाले' वसन्ते ऋतौ 'स्वयम्' आत्मना 'अपगते' गते सति । कथं स्वयं वसन्तो गतः ? अत आह, उत्प्रेक्ष्यते–'ह्रिया' लज्जया [illegible] । का लज्जा ? इति विशेषणद्वारेण कारणमाह–किंविशिष्टे पुष्पकाले ? कुसुमधनुषः 'मन्युः' सिद्धस्य दोषान् 'तस्येतस्य' भगवतो नेमिनः 'अनिष्टे' अप्रिये, कामस्य को दोषः ? इत्याह–किंरूपस्य कामस्य ? 'शान्तशत्रोः' शान्तानां निर्विकाराणां शत्रुः वैरी, अथवा शान्ता निर्विकारा एव शत्रवो यस्येति दोषः । भगवान् शान्तः, कामस्तु शान्तशत्रुः, अतस्तेन कामेन भैक्ष्याद्दूरस्थोऽपि सापराधः, वैरिगृहत्वात् । भगवतो वा विशेषणम् । किंविशिष्टस्यैतस्य ? 'शान्तशत्रोः' शान्ताः शत्रवो यस्य । किंरूपस्तपः ? 'समयगतिविन्' समयः कालस्तदनुरूपः कालस्तस्य गतिं गमनं विन्दति लभते वेत्ति वा समयगतिविन् । पक्षे समयो राजसेवाऽवसरः तस्मिन् गतिं गमनं वेत्तीति समयगतिविन् । पुनः किंरूपः ? 'सप्रतापः' प्रकृष्टः तापः औष्ण्यं तेन सह वर्तते, पक्षे प्रतापवान् । आगादिति 'गाङ् गतौ' इति धातो रूपम् । आत्मोपशायेति 'शीङ्क् स्वप्ने' शी उपपूर्वः, उपशयनमुपशायः "व्युपाच्छीङः" (सि० ५–३–७७) घञ् प्रत्यय इत्यादि । "विशाय उपशायश्च पर्यायोऽनुक्रमः क्रमः" । (कां. ६–१३९) इति (हैम) नाममालायाम् । काव्यलिङ्गोत्प्रेक्षाद्यनेकालङ्काराः ॥ २९ ॥

तेजोवीर्यं पुरु रुचिपतेरुत्तरामेव काष्ठां
श्रेयःपुष्टां परि विचरतः प्राप्तमैधिष्ट शश्वत् ।
तापोत्तप्तानपि तनुमतः प्रीणयन्ती तुषारै-
र्यातिज्यानिं प्रतिदिनमगाद्यामिनी तत्तु चित्रम् ॥ ३० ॥

'रुचिपतेः' सूर्यस्य 'पुरु' प्रभूतं 'शश्वत्' निरन्तरं 'तेजोवीर्यं' तेजोबलम् 'ऐधिष्ट' अवर्धिष्ट । किं कुर्वतः ? उत्तरामेव 'काष्ठां' दिशं 'परि विचरतः' उदीचीं दिशं प्रति चलतः । तत् 'प्राप्तं' युक्तम्, यत्र अन्योऽपि उत्तरां उत्कृष्टां काष्ठां क्रियां परि विचरति तस्य तेजोवीर्यं वर्धते । किंरूपां काष्ठाम् ? 'श्रेयःपुष्टां' श्रेयसा कल्याणेन पुष्टाम्, उत्तरा हि श्रेयःकारिणी । पक्षे श्रेयसा पुण्येन पुष्टाम् । 'तु' पुनः तत् 'चित्रम्' आश्चर्यं यत् प्रतिदिनं 'यामिनी' रात्रिः 'ज्यानिं' हानिं अगात्, किं कुर्वती ? तापोत्तप्तान् 'तनुमतः' प्राणिनः 'तुषारैः' शीतलैः वातैः प्रीणयन्त्यपि । दिने हि ग्रीष्मे घर्मेण प्राणिनस्तप्ता भवन्ति, निशायां शीतलवातेन प्रीयन्ते, ततो रात्रि-स्तापतप्तप्राणिप्रीणनं पुण्यं कुर्वाणा यद् अक्षीयत तदाश्चर्यम्, पुण्य-कर्तुर्वृद्धिभावात् । अत्र समविषमसमासोक्तिश्लेषानुप्रासाः । "समं योग्यतया योगो यदि संभावितः क्वचित् ।" (का० प्र० १०,१२५) पूर्वार्धे, उत्तरार्धे—"क्वचिद् यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात् । कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ॥ गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये । क्रमेण च विरुद्धे यत् स एष विषमो मतः ॥" (का० प्र० १०, १२६–१२७) इति ॥ ३० ॥

वृद्धिं भेजे दिवसमनिशं स्पष्टपादेन यद्वा
शीतत्वेनापि च कठिनतां यामिनी क्षीयते स्म ।
नैरन्तर्ये विमलरुचयः प्रायशो हि यतन्ते
क्षीयन्ते चाप्यधिगततमःशीलमाराः स्वभावात् ॥ ३१ ॥

'अनिशं' निरन्तरं दिवसं स्पष्टपादेन 'यथा' सार्धं वृद्धिं भेजे ।

अपि च 'वासतेयी' रात्रिः शीतत्वेन सत्रा 'तलिनतां' तुच्छतां विवेश । दिवसस्तापश्च वृद्धौ, शीतत्वं रात्रिश्च तुच्छे जाते इत्यर्थः। एतत्सिद्धौ अर्थान्तरं न्यस्यति—एतत् 'न नोद्यं' नाश्चर्यम्, 'हि' यस्मात् 'प्रायशः' प्रायो विमलरुचयः 'अयन्ति' वर्धन्ते, विमला निर्मला परद्रोहादिवर्जिता रुचिः इच्छा येषां ते विमलरुचयः, दिवसमपि विमलरुचि विमलकान्ति, अतस्तस्य वृद्धिर्युक्ता । 'च' अन्यत् 'अभ्यधिगततमःस्तोमभावाः स्वभावात् क्षीयन्ते' अभ्यधिगतः प्राप्तः तमःस्तोमः पापसमूहो येन एवंविधो भावः चित्ताभिप्रायो येषां ते अभ्यधिगततमःस्तोमभावाः, रात्रिरपि अभ्यधिगतः तमःस्तोमस्य अन्धकारसमूहस्य भावः सत्ता यया सा अभ्यधिगततमःस्तोमभावा, अतस्तस्या हानिर्युक्ता । दिवसशब्दः पुंनपुंसकः । स्वप्रतापेनेति सहार्थे तृतीया । अत्र सहोक्त्यर्थान्तरन्यासजालङ्काराः ॥ ३१ ॥

स्रोतस्विन्याः सिकतिलतटेनाग्निमिन्धेन भानो-
　भसां स्पर्शादपि पथि चरद्देहिनो देहिरे धिङ् ।
यद्वाऽऽसक्तः प्रकृतिकुटिलास्वाचरेन्निम्नगासु
　प्रायोऽश्रेयो मृदुरपि न कः स्वल्पमप्यूष्मयोगे ॥ ३२ ॥

'स्रोतस्विन्याः' नद्याः 'सिकतिलतटेन' वालुकाकुलपुलिनेन 'पथि चरद्देहिनः' पथि मार्गे चरन्तो देहिनः प्राणिनो धिक् देहिरे दग्धाः । किंविशिष्टेन सिकतिलतटेन ? 'भानोः' सूर्यस्य 'भासां' कान्तीनां स्पर्शादपि 'अग्निमिन्धेन' अग्निवत् ज्वलता सूर्यकरात्युष्णवालुकाभृततटे सञ्चरन्तः पान्थाद्या दग्धा इत्यर्थः । अत्रार्थान्तरन्यासमाह—'यद्वा' अथवा 'प्रकृतिकुटिलासु' प्रकृतिवक्रासु 'निम्नगासु' स्त्रीषु आसक्तः कः पुमान् 'मृदुरपि' सुकुमालोऽपि 'स्वल्पमपि' स्तोकमपि 'ऊष्मणः' प्रतापस्य योगे सति प्रायः 'अश्रेयः' अशुभं नाचरेत् ? अपि तु सर्वोऽप्याचरेत् । ततो मृदु कोमलं तटमपि निम्नगासु

स्त्रीषु सक्तं ऊष्मयोगे तापयोगे सति यद्देहिदहनलक्षणमनुभमा
तत्किं चित्रम्?। सिकता विद्यन्ते यत्र तत् सिकतिलम्, प्रज्ञादे
इलप्रत्ययः। अग्निवत् इन्धे–दीप्यते इत्यग्निमिन्धम्, पचा
"भ्राष्ट्राग्नेरिन्धे" (सि० ३–२–११४) इति मोऽन्तः। अत्रोदा
पार्थान्तरन्यासाः। ऊष्मण आधिक्यदर्शनादुदात्तम्॥ ३२॥

लब्ध्वा तेजः खरतरकरैर्गोपतिः पीडयित्वा
तोयस्थानान्यतिघनरसानाददानः प्रतापी।
निन्ये हानिं स्वजननलिनास्थानरूपाणि लोके
प्रासिध्यं रमयति यतो गृद्धिबुद्धिर्विशेषात्॥ ३३॥

'गोपतिः' सूर्यः तेजो लब्ध्वा 'स्वजननलिनास्थानरूपाणि तो
स्थानानि हानिं निन्ये' स्वजनानि स्वगोत्राणि, कमलबन्धुत्वात्सूर्य
यानि नलिनानि कमलानि तेषामास्थानरूपाणि निवासरूपाणि तो
स्थानानि जलस्थानानि हानिं निन्ये, शोषितानीत्यर्थः। किं कुर्वाण
'खरतरकरैः' कठोरतरकिरणैः अगाधं 'घनरसान्' जलानि 'आददान
गृह्णानः। अन्योऽपि गोपतिः राजा तेजसा वर्धमानः कठोरदण्डै
पूर्वमन्यान् पीडयित्वा 'अतिघनरसान्' अतिघनान् रसान्
नानि गृह्णन् स्वजनगृहाण्यपि हानिं नयति। "रसः स्वादे ज
वीर्ये रागे द्रवे विषे धने" इति रसशब्देन धनम्। 'यतः' यस्मात्
रणात् 'गृद्धिबुद्धिः' लोभबुद्धिः प्राणैश्वर्यं कुरुते विशेषात् 'रमय
न्यायर्थं करोति, लेशार्थे हि विशेषालोभो वर्धते। [illegible]
काव्यलिङ्गार्थान्तरन्यासाः॥ ३३॥

गाम्भ्याशाङ्कितजनताप्रथमागारे तुषारान्
मुञ्चद्भिः पवनदुर्ललितैर्माऽस्तु[illegible]
धनुः [illegible] पर्ने-
[illegible] गुणमदकृतैः [illegible]॥ ३४॥

'[illegible]' [illegible] '[illegible]

घनजनैः 'विरेजे' शुशुभे । किंरूपैस्तालवृन्तैः ? 'तुषारान्' जलकणान् संवर्षद्भिः 'पवनलुलितैः' वायुकम्पितैः । पुनः किंरूपैः ? उत्प्रेक्ष्यते—'धर्मव्यालस्य' धर्मदुष्टगजस्य 'विलोलैः' चञ्चलैः 'कर्णतालैः' कर्णाञ्चलैरिव । किंरूपस्य धर्मव्यालस्य ? शैत्योत्पन्नतनुभिदे 'वर्मलक्ष्माणि' शरीरलक्षाणि 'धर्तुः' दधतः, शैत्यमेव उत्पन्नतनुस्तस्य भिदे भिदायै । किंरूपैः कर्णतालैः ? 'मुक्तमदकणैः' मुक्ताः क्षरिता मदकणा यैस्ते तैः, अतो जलकणवर्षिणो वायुकम्पितास्तालवृन्ता सर्वोत्प्रेक्ष्यन्ते शैत्यकभिदे कृतबहुरूपस्य धर्मदुष्टगजस्य मदकणवर्षिणश्चञ्चलाः कर्णताला इव । अत्र परिकररूपकोत्प्रेक्षानुप्रासाः ॥२४॥

> संतापाढ्यः प्रखरकरभीर्जातदोषोदयेच्छ-
> स्तृष्णापात्रं जडकृतरतिर्दीर्घनिद्राभिलाषी ।
> राजन्यत्यप्यवनिवलयेऽभ्रदाहे निदाघे-
> ऽयोभूयिष्ठानलसविलसद्धर्मशर्माऽपि लोकः ॥ २५ ॥

'अभ्रदाहे' महादाहे 'निदाघे' ग्रीष्मे लोक एवंविधोऽयोभूयिष्ठ ईदृशोऽत्यन्तमभूत् । किंरूपो लोकः ? 'अनलसविलसद्धर्मशर्मा' अनलसं सोद्यमं विलसत् धर्मः पुण्यं शर्म सुखं च यस्य सः धर्मशर्मसहितोऽपि (इति यावत्) । क सति ? 'अवनिवलये' पृथ्वीवलये 'राजन्यत्यपि' शोभनो राजा बलिष्ठतरो राजन्वान् स इव । किंरूपो लोकः ? सन्तापेन उद्वेगेन आढ्यः । यो लोकोऽनलसविलसद्धर्मशर्मा भवति स सन्तापाढ्यः कथम् ? इति विरोधः, अथ विरोधपरिहारमाह—सं सामस्त्येन तापेन आढ्यः । 'प्रखरकरभीः' प्रखरान् अतिकठोरान् करान् दण्डान् बिभेतीति प्रखरकरभीः, पक्षेऽतिकठोरेभ्यः करेभ्यो रविकिरणेभ्यो बिभेतीति । जाता दोषाणां द्रोहमदमात्सर्याणां उदये इच्छा यस्य सः, पक्षे जाता दोषोदये रात्र्युदये इच्छा यस्य सः । तृष्णायाः लोभस्य पात्रम्, पक्षे तृष्णायाः पिपासायाः पात्रम् । तथा जडेषु मूर्खेषु

कृता रतिर्येन सः, पक्षे जले कृता रतिर्येन सः । दीर्घनिद्रां मरणं अभिलषतीति, पक्षे दीर्घां वह्वीं निद्रामभिलषतीति, ग्रीष्मे हि निद्राप्राचुर्यं स्यात् । शोभनो राजा यस्मिन् स राजन्वान् "राजन्वान् सुराज्ञि" (सि० २-१-९८) इति निपातः । अयोमूयिष्ठेति येङ्लीयतान्तस्य मूधातोरयतनीतप्रत्यये रूपम् । अत्र परिकरविरोधश्लेषाः ॥ ३५ ॥

ऊष्मोत्कर्षान्न सुखमपुपत् सौधमाध्यन्दिनोर्वी
लूकास्तोकोदयदरतितः सौधमूर्धाधिवासः ।
दूरीकृत्य द्वयमिति जले केलिकामः सनेमिः
शौरिर्लीलोपवनमसरत्तूरसंहूतपौरः ॥ ३६ ॥

'शौरिः' विष्णुः 'लीलोपवनं' क्रीडावनं असरत् । किंरूपः शौरिः ? 'सनेमिः' नेमिसहितः । पुनः किंरूपः ? 'तूरसंहूतपौरः' तूरैः वाद्यैः संहूताः पौराः नागरा येन सः । अतो वाद्यरवं श्रुत्वा लोका अपि तत्र गताः । पुनः किंविशिष्टः शौरिः ? इति द्वयं सौधमध्यगृहोर्ध्ववासलक्षणं 'दूरीकृत्य' परिहृत्य जले 'केलिकामः' केलौ कामोऽभिलाषो यस्य सः । इतीति किम् ? 'सौधमध्यन्दिनोर्वी' आवासमध्यभूमिः 'ऊष्मोत्कर्षात्' धर्मप्राचुर्यात् सुखं न अपुपत्, 'सौधमूर्धाधिवासः' सौधोपरितनभूमिः 'लूकास्तोकोदयदरतितः सुखं नापुपत्' लूकातोऽस्तोका वह्वी उदयन्ती उत्पद्यमाना अरतिः तस्याः सकाशात् । सौधमध्ये तापव्यापः, सौधोपरि लूकाक्लेशः इति द्वयं परिहृत्य जले क्रीडितुं श्रीकृष्णः श्रीनेमिना सह सपौरलोकः क्रीडावनमगादित्यर्थः । अपुपदित्यत्र "लदिद्युतादि पुष्यादेः" (सि० ३-४-६४) इति अङ् । सौधमाध्यन्दिनोर्वी मध्ये भवा माध्यन्दिनी "मध्यादिनण्णेया मोऽन्तश्च" (सि० ६-३-१२६) दिनण्प्रत्ययः, वृद्धिः, ङी, माध्यन्दिनी चासौ उर्वी च माध्यन्दिनोर्वी, "पुंवत्कर्मधारये" (सि० ३-२-५७) पुंवद्भावः । अत्र काव्यलिङ्गपर्यायोक्तसहोक्त्यलङ्काराः ॥ ३६ ॥

ज्येष्ठं कृत्वा पुर इव भुजभग्नसालैः रसालैः
सालैर्ग्रीष्मः प्रमदवनभूमध्यदेशप्रवेशे ।
पुञ्जीभूता भुवि विगलनाद्भारतार्धत्रिलोकी-
लीलापत्योः स्वफलपटलीः प्राभृतेऽचीकरच्च ॥ ३७ ॥

'ग्रीष्मः' उष्णर्तुः भारतार्धत्रिलोकीलीलापत्योः प्रमदवनभूम-ध्यदेशप्रवेशे रसालैः 'सालैः' सहकारवृक्षैः स्वफलपटलीः 'प्राभृते' उपदायां अचीकरत्, 'चः' अवधारणे, रसालसालाः स्वफलपटलीः प्राभृते कुर्वन्ति तान् कुर्वतो ग्रीष्मः प्रायुङ्क्त । भारतार्धलीलापतिः श्रीकृष्णः, त्रिलोकीलीलापतिः श्रीनेमिः तयोः । यत्र राज्ञोऽन्तः-पुर्यः क्रीडन्ति तत् प्रमदवनं तस्य भुवो मध्यप्रदेशस्तत्र प्रवेशे । किंविशिष्टै रसालैः ? भुजा इवाचरन्त्यो नम्राः सालाः शाखा येषां ते तैः । किं कृत्वा ? 'ज्येष्ठं' ज्येष्ठमासं 'पुर इव' अग्रे इव कृत्वा, ज्येष्ठाषाढमासौ हि ग्रीष्मः । किंभूताः स्वफलपटलीः ? 'भुवि' पृथिव्यां विगलनात् 'पुञ्जीभूताः' राशीभूताः । अन्यस्यापि राज्ञः प्रवेशे ज्येष्ठं वृद्धं पुरस्कृत्य फलादीन्युपदीक्रियन्ते । भुजा इवाचर-न्तीति "कर्तुः क्विप्" (सि० ३–४–२५) क्विप्प्रत्ययः, "अ-प्रयोगीत्" (सि० १–१–३७) भुजन्तीति वर्तमाने "शत्रान-शावेष्यति तु सस्यौ" (सि० ५–२–२०) शतृप्रत्ययः । अत्रोप-माश्लेषसमासोक्तिपर्यायोक्तानि । अखण्डकाव्यवाक्येनाम्राणां परि-पक्वफलत्वं दर्शितमिति पर्यायोक्तम् ॥ ३७ ॥

दर्शं दर्शं फलितफलदान् पाकिमं पीतलत्वं
बिभ्रद्बभ्रुः सरसमकृशं चानशालाटवान्यत् ।
गर्जद्दूर्जः फलमथ ललौ लीलयाऽन्नाश्रवार्थं
सारग्रन्थान् कविरिव सुधीः सद्गुणं सूक्तजातम् ॥ ३८॥

'अथ' अनन्तरं 'बभ्रुः' कृष्णः 'फलितफलदान्' फलितवृक्षान् 'दर्शं दर्शम्' आभीक्ष्ण्येन दृष्ट्वा लीलया फलं ललौ । किंरूपम् ?

'पाकिमं' पाकेन निर्वृत्तं पाकिम् । किं कुर्वन्? पीतलत्वं बिभ्रत् सरसं अहृतं अत एव 'बालशालाटवान्यत्' बालं शुष्कं शलाटु अपक्वं तेषां समूहात्यन्त् । पुनः किंरूपः? गर्जन् गर्जो गजो यस्य । एतेन पुराणो सरलत्वसफलत्वादिगुणा दर्शिताः, येन गजारूढेनापि लीलया फलानि लायन्ते । क इव? 'सुधीरिव' यथा सुधीः शास्त्रज्ञान् दत्तं दत्तं सूक्तजातं सुभाषितसमूहं लाति । किंविशिष्टं सूक्तजातम्? अनाश्रयो निर्दोषोऽर्थो यस्य तत् । 'सद्गुणं' सन्तः प्रशस्या गुणा माधुर्याद्या यस्मिन् तत् । दत्तं दत्तं पुरे "कृतं चाभीक्ष्ण्ये" (सि० ५-४-४८) इत्याह । पाकेन निर्वृत्तं पाकिमम्, पाकादिमः इमप्रत्ययः । बालानां शलाटूनां समूहः "षष्ठ्याः समूहे" (सि० ६-२-९) अणुप्रत्ययः । अत्र परिकराङ्कुरमाऽनुप्रासाः ॥ २८ ॥

त्यक्त्वा नागं हरितपरमशैम दर्पेन दन्ती
बद्ध्वा कल्लोलैरिव गजर्षीव बन्धप्रलम्बमानः ।
वीथ्याश्रेव्दं मरकतमणीः मसिनं पाणिपर्ष-
तत्पीनमौलिन कल्पनात् पथिगः गेयगन्तीः ॥ २९ ॥

[illegible] पादः कृष्णः मसिनं यथा भवति [illegible] वीथ्याश्चरे । किं कुर्वन्तः? 'नागं' [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ... [illegible] बद्ध्वा [illegible] ... [illegible] इव वधा गजो [illegible] ... [illegible] बद्ध्वा [illegible] । [illegible] [illegible] ... [illegible] । [illegible] [illegible] ... [illegible] । [illegible] ... [illegible] । [illegible]

पुनः किंरूपाम्? 'कलक्वणान्' मधुरशब्दान्। पाणिपद्मैरिति तुल्याधर्मवाचकधर्मलोपे लुप्तोपमा मृगलोचनानाम्। अम्भमोऽपत्यानि आम्भयः "भूयःसंभूयोऽम्भोऽमितौजसः स्लुक् च" (सि० ६–१–३६) इञ्प्रत्ययः सलोपः, "वृद्धिः स्वरेष्वादेर्ञ्णिति तद्धिते" (सि० ७–४–१) वृद्धिः, "अवर्णेवर्णस्य" (सि० ७–४–६८) अलोपः, आम्भिरिति निष्पन्नं, ततः पुंलिङ्गे शसि आम्भीनिति। अत्रोपमाजातयुक्तेभारूपकानुप्रासाः ॥ ३९ ॥

तत्रान्यत्रोत्तरसरिसरिद्वापितोयेषु चैष
क्रीडां कर्तुं रतिवशवशावृन्दवर्ती सुगात्रः।
मृद्नन् पद्भ्यां नलिननिकरं नीरपूरं करेणो-
दस्यन् पश्यन्नधिमदमुपाक्रंस्त हस्तीव हस्तः ॥ ४० ॥

'एषः' कृष्णः 'तत्र' तासु सरसीषु 'च' अन्यत्र् अन्यत्र, उत्तरः सरित्सरिद्वापितोयेषु क्रीडां कर्तुमुपाक्रंस्त, उत्तराणि प्रधानानि सरिः निर्झरः सरित् नदी वापी (च) तेषां तोयेषु। क इव? हस्तीव यथा हस्ती सरोनिर्झरादिजलेषु क्रीडां कर्तुमुपक्रमते। किंरूप एषः? 'रतिवशवशावृन्दवर्ती' रतिवशा रागवशा या वशाः स्त्रियः तासां वृन्दे वर्तत इत्येवंशीलः, पक्षे रतिवशा वशा हस्तिन्यः तासाम्। पुनः किंविशिष्टः? 'सुगात्रः' सुन्दरशरीरः, हस्तिपक्षे गात्रं पश्चिमभागः। पुनः कथंभूतः? 'पद्भ्यां' पादाभ्यां नलिननिकरं मृद्नन्, समम्। नीरपूरं 'करेण' (हस्तेन पक्षे) शुण्डया 'उदस्यन्' उत्क्षालयन्। अधिमदं यथाभवति पश्यन्, समानम्। (पुनः कथम्भूतः? हस्तः, समम्।) वापितोयेष्विति "वेदूतोऽनव्ययय्वृदीच्ङीयुवः पदे" (सि० २–४–९८) ह्रस्वः, उपाक्रंस्तेति "प्रोपादारम्भे" (सि० ३–३–५१) आत्मनेपदम्। अत्र परिकरोपमाश्लेषाः ॥ ४० ॥

नाडीं कापि क्वचन घटिका याममेकं क्वचिच्च
द्वित्रान् क्वापि क्वचिदपि दिनं पक्षिणं गर्भकं च ।
स्थायं स्थायं सलिलनिलये तीव्रतापोपशान्त्यै
शौरिर्मग्नोऽपि हि रतिरसे दीर्घिकायां ममज्ज ॥ ४१ ॥

'हि' निश्चितं 'शौरिः' कृष्णो 'रतिरसे' रागरसे मग्नोऽपि 'दी
र्घिकायां ममज्ज । किं कृत्वा ? 'सलिलनिलये' जलस्थाने का
'नाडीं' घटिकाम्, क्वचन घटिकाः बहुवचनाद्बह्वीः, 'च' अन्य
क्वचित् 'एकं यामं' प्रहरम्, क्वापि द्वित्रान् प्रहरान्, क्वचिदपि 'दि
पक्षिणं' द्वाभ्यां रजनीभ्यां वेष्टितमहः पक्षी तं पक्षिणम्, पार्श्वद्व
रात्रिरन्तराले दिनम्, क्वापि 'गर्भकं' रजनीयुगम्, अर्वाचीना पर
चीना च रात्रिरेकत्र मध्ये दिनमन्यत्र, 'स्थायं स्थायं' आभी
क्ष्ण्येन स्थित्वा स्थित्वा । किमर्थम् ? 'तीव्रतापोपशान्त्यै' तीव्रतापो
पशमनार्थम् । स्थायं स्थायमिति स्थानं पूर्वं "ख्णं चाभीक्ष्ण्ये
(सि० ५-४-४८) ख्णम् । अत्र रतिरसे मग्नोऽपि दीर्घिकाय
ममज्जेति विरोधः, योऽन्यत्र मग्नो भवति सोऽन्यत्र कथं मज्जति ?
तापाधिक्यप्रतिपादनं वाच्यम् । अत्रोदात्तविरोधानुप्रासाः ॥ ४१ ॥

तस्यां श्रोणिद्वयसपयसि स्मेरपङ्केरुहायां
रत्नश्रेणीखचितनिचितस्वर्णसोपानकायाम् ।
हर्षात् खेलन् सह सहचरीरत्नवारेण तारा-
चक्रेणेवाभ्रमदुडुपतिर्नेमिमन्वेष नेमिम् ॥ ४२ ॥

'एषः' कृष्णो नेमिं अनु अभ्रमत् । किं कुर्वन् ? 'तस्यां' दीर्घि-
कायां 'सहचरीरत्नवारेण' अन्तःपुररत्नसमूहेन सह हर्षात् 'खेलन्'
क्रीडन् । किंविशिष्टायां तस्याम् ? 'श्रोणिद्वयसपयसि' श्रोणेः कटी-
तटस्योर्ध्वं पयो यत्र सा तस्याम् । (पुनः कथंभूतायाम् ?) रत्नश्रे-
णीभिः खचितानि यद्वानि निचितानि दृढानि स्वर्णसोपानकानि
यस्यां सा तस्याम् । क इव ? 'उडुपतिरिव' चन्द्र इव, यथोडुप-

त्रिम्नाराध्येन सह मेरुमनु भ्रमति । श्रोणिरूर्ध्वं श्रोणिद्वयसं "द्घोर्ध्वं दघ्नट्द्वयसट्" (सि० ७-१-१४२) द्वयसट्प्रत्ययः, अभ्रमदित्यत्र अद्यतनी ह्यस्तनी वा, ह्यस्तन्यां "भ्रासम्लास"— (सि० ३-४-७२) इति विकल्पेन श्यय्, अद्यतन्यां सदित्वाद् अङ् । अत्रोत्प्रेक्षोपमानुप्रासाः ॥ ४२ ॥

पत्याहूतं यदुपतिगृहाः संविदाना मदाना-
　मायं बीजं निवसितसितश्लक्ष्णपत्त्रोर्णवर्ण्याः ।
दृक्कोणेन त्रिभुवनमपि क्षोभयन्त्यः परीयुः
　कर्मापेक्षाः परमपुरुषं मोहसेनाः प्रभुं तम् ॥ ४३ ॥

'यदुपतिगृहाः' कृष्णान्तःपुर्यः तं प्रभुं 'परीयुः' परिवृतवत्यः । किंरूपा यदुपतिगृहाः? 'पत्याहूतं' पत्यभिप्रायं 'संविदानाः' जानन्त्यः, पुनः किंरूपाः? मदानामायं 'बीजं' कारणम्, पुनः कथंभूताः? 'निवसितसितश्लक्ष्णपत्त्रोर्णवर्ण्याः' निवसितानि परिहितानि सितानि श्वेतानि श्लक्ष्णानि मृदूनि पत्त्रोर्णानि धौतवस्त्राणि तैर्वर्ण्याः, (पुनः किंभूताः?) 'दृक्कोणेन' नयनप्रान्तभागेन त्रिभुवनमपि क्षोभयन्त्यः, कर्म विलासकर्म अपेक्षन्त इति कर्मापेक्षाः, पुनः किंभूताः? मोहस्य सेना इव मोहसेनाः । किंरूपं तम्? परमपुरुषम्, पक्षे यथा मोहसेनाः परमपुरुषं आत्मानं परियन्ति, किंरूपा मोहसेनाः? कर्म ज्ञानावरणादि मदपेक्षन्त इति कर्मापेक्षाः । संविदाना इति 'विदक् ज्ञाने' संपूर्वः संवदन्तीत्येवंशीलाः "वयःशक्तिशीले" (सि०५-२-२४) इति शानप्रत्ययः । अत्रानुप्रासरूपकश्लेषातिशयोक्तयः ॥ ४३ ॥

तासां लीलोच्छलनजनिता गुन्दलन्ति स तोय-
　ध्वाना वीचिप्रचलनलिनीनायिकाः साध्वनृत्यन् ।
श्रोत्रापेयं मधुकरकुलैर्गीयते स्मातिरक्तं,
　तस्येत्यासीदिव नवरसा शुद्धसङ्गीतरीतिः ॥ ४४ ॥

उत्प्रेक्ष्यते—'तस्य' भगवतः 'इति नवरसा शुद्धसङ्गीतरीतिः

नाडीं क्वापि क्वचन घटिका याममेकं क्वचिच्च
द्वित्रान् क्वापि क्वचिदपि दिनं पक्षिणं गर्भकं च ।
स्नायं स्नायं सलिलनिलये तीव्रतापोपशान्त्यै
शौरिर्मग्नोऽपि हि रतिरसे दीर्घिकायां ममज्ज ॥ ४१ ॥

'हि' निश्चितं 'शौरिः' कृष्णो 'रतिरसे' रागरसे मग्नोऽपि दीर्घिकायां ममज्ज । किं कृत्वा ? 'सलिलनिलये' जलस्थाने क्वापि 'नाडीं' घटिकाम्, क्वचन घटिकाः बहुवचनाद्बह्वीः, 'च' अन्यत् क्वचित् 'एकं यामं' प्रहरम्, क्वापि द्वित्रान् प्रहरान्, क्वचिदपि 'दिनं पक्षिणं' द्वाभ्यां रजनीभ्यां वेष्टितमहः पक्षी तं पक्षिणम्, पार्श्वद्वये रात्रिरन्तराले दिनम्, क्वापि 'गर्भकं' रजनीयुगम्, अग्रेतना पाश्चात्या च रात्रिरेकत्र मध्ये दिनमन्यत्र, 'स्नायं स्नायं' आभीक्ष्ण्येन स्नात्वा स्नात्वा । किमर्थम् ? 'तीव्रतापोपशान्त्यै' तीव्रतापो- पशमनार्थम् । स्नायं स्नायमिति स्नान पूर्वं "ख्णम् चाभीक्ष्ण्ये" (सि० ५-४-४८) ख्णम् । अत्र रतिरसे मग्नोऽपि दीर्घिकायां ममज्जेति विरोधः, योऽन्यत्र मग्नो भवति सोऽन्यत्र कथं मज्जति ? रागाधिक्यप्रतिपादनं वाच्यम् । अत्रोत्तानविरोधानुप्रासाः ॥ ४१ ॥

तस्यां श्रोणिद्वयसपयसि क्रीडदैरद्वयां
स्वश्रेणीमिलितनिचितस्वर्णसोपानकायाम् ।
इष्टान् गेहन् सह सहचरीसंघयोगेन नाग-
पक्षैर्धाराभ्रमदुदृशनिर्भेकमन्वेष नेमिम् ॥ ४२ ॥

'एषः' कृष्णो नेमिं अनु अगमत् । किं कुर्वन् ? 'तस्यां' दीर्घि- कायां 'अन्तःपरिजनयोगेन' अन्तःपुरजनसमूहेन सह इष्टान् 'गेहन्' [illegible] । किंविशिष्टायां तस्याम् ? 'श्रोणिद्वयसपयसि' श्रोणिः कटी- द्वयसं [illegible] पयो जलं यस्यां सा तस्याम् । (पुनः कथंभूतायाम् ?) स्वश्रे- णीभिः [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] इव, [illegible]

तिम्नाराचक्रेण सह मेरुमनु भ्रमति । श्रोणेरूर्ध्वं श्रोणिद्वयसं "वोर्ध्वे दघ्नद्वयसट्" (सि० ७–१–१४२) द्वयसट्प्रत्ययः, अभ्रमदित्यत्र अद्यतनी ह्यस्तनी वा, ह्यस्तन्यां "भ्रासम्लास"–(सि० ३–४–७३) इति विकल्पेन शव्, अद्यतन्यां लृदित्वाद् अङ् । अत्रोदात्तोपमानुप्रासाः ॥ ४२ ॥

पत्याकूतं यदुपतिगृहाः संविदाना मदाना-
माद्यं बीजं निवसितसितश्लक्ष्णपत्रोर्णवर्ण्याः ।
दृक्कोणेन त्रिभुवनमपि क्षोभयन्त्यः परीयुः
कर्मापेक्षाः परमपुरुषं मोहसेनाः प्रभुं तम् ॥ ४३ ॥

'यदुपतिगृहाः' कृष्णान्तःपुर्यः तं प्रभुं 'परीयुः' परिवृतवत्यः। किंरूपा यदुपतिगृहाः? 'पत्याकूतं' पत्यभिप्रायं 'संविदानाः' जानन्त्यः, पुनः किंरूपाः ? मदानामाद्यं 'बीजं' कारणम् , पुनः कथंभूताः ? 'निवसितसितश्लक्ष्णपत्रोर्णवर्ण्याः' निवसितानि परिहितानि सितानि श्वेतानि श्लक्ष्णानि मृदूनि पत्रोर्णानि धौतवस्त्राणि तैर्वर्ण्याः, (पुनः किंभूताः ?) 'दृक्कोणेन' नयनप्रान्तभागेन त्रिभुवनमपि क्षोभयन्त्यः, कर्म विलासकर्म अपेक्षन्त इति कर्मापेक्षाः, पुनः किंभूताः ? मोहस्य सेना इव मोहसेनाः । किंरूपं तम् ? परमपुरुषम्, पक्षे यथा मोहसेनाः परमपुरुषं आत्मानं परियन्ति, किंरूपा मोहसेनाः ? कर्म ज्ञानावरणादि तदपेक्षन्त इति कर्मापेक्षाः । संविदाना इति "विदक् ज्ञाने" संपूर्वः संवदन्तीत्येवंशीलाः "वयःशक्तिशीले" (सि०५–२–२४) इति शानप्रत्ययः । अत्रानुप्रासरूपकश्लेषातिशयोक्तयः ॥ ४३ ॥

तासां लीलोच्छलनजनिता गुन्दलन्ति स्म तोय-
घ्राना वीचिप्रचलनलिनीनायिकाः साध्वनृत्यन् ।
श्रोत्रापेयं मधुकरकुलैर्गीयते सातिरेकं,
तस्येत्यासीदिव नवरसा शुद्धसङ्गीतरीतिः ॥ ४४ ॥

उत्प्रेक्ष्यते—'तस्य' भगवतः 'इति नवरसा शुद्धसङ्गीतरीतिः

धासीदिव' नवो रसो अद्भुतादिर्यस्याः शुद्धा निर्दोषा सङ्गीतस्य नाट्यस्य रीतिः। इतीति किम्? 'तासां' अन्तःपुरीणां 'लीलोह्लनजनिताः' लीलाखेलननिष्पादिताः 'तोयध्वानाः' तोयशब्दाः 'गुन्दलन्ति स्म' मर्दलस्य ध्वनिर्गुन्दलः कथ्यते ततो मर्दलघोङ्कारायन्ते स्म, 'वीचिप्रचलनलिनीनायिकाः' वीचिभिः कल्लोलैः प्रचलाः चपला नलिन्यः कमलिन्य एव नायिका नर्तक्यः साधु यथा भवति अनृत्यन्, 'मधुकरकुलैः' भृङ्गपटलैः श्रोत्रापेयं 'अतिरक्तं' अतिमधुरं गीयते स्म श्रोत्रैः श्रवणैः आपीयत इति लक्षणयाऽर्थं श्रूयत इति। अन्यत्रापि नाट्ये मर्दलधोङ्कारा भवन्ति, नर्तक्यो नृत्यन्ति, गायना गायन्ति। अत्र रूपकोत्प्रेक्षोदात्तातिशयोक्तयः॥४४॥

पूरं पूरं सुरभिसलिलैः स्वर्णशृङ्गाणि रङ्गात्
सारङ्गाक्ष्यः सितकृतममुं सर्वतोऽप्यभ्यपिञ्चन् ।
धारा धाराधर! सरलगास्ताश्च यारामपाराः
सारादोऽङ्गप्रसृमरशरासारसारा विरेजुः ॥ ४५ ॥

'सारङ्गाक्ष्यः' स्त्रियः रङ्गात् 'अमुं' भगवन्तं सर्वतोऽपि 'अभ्यपिञ्चन्' अभिषिषिचुः। किं कृत्वा? स्वर्णशृङ्गाणि सुरभिसलिलैः 'पूरं पूरं' (आभीक्ष्ण्येन) पूरयित्वा, किंरूपं अमुम्? स्मितं हास्यं करोतीति स्मितकृत् तं स्मितकृतम्। 'हे धाराधर!' हे मेघ! 'च' अन्यत् ताः 'धाराः' जलानां अपारा धाराः 'स्मारादोऽङ्गप्रसृमरशरासारसाराः' स्मरसंबन्धिनः अमुष्य अङ्गं प्रति प्रसृमराः प्रसरणशीलाः शरा बाणास्तेषां आसारो वेगवद्वृष्टिस्तद्वत् साराः शोभनाः 'विरेजुः' शुशुभुः, वारिधारा एव भगवदङ्गे प्रसृमराः स्मरबाणधोरणि (ण्यः)। किंरूपा धाराः? सरलं गच्छन्तीति सरलगाः "क्वचित्". (सि० ५-१-१७१) डप्रत्ययः, स्वामिनोऽङ्गे सरलतया पतन्त्यः सन्तीत्यर्थः। अत्र जात्युत्प्रेक्षानिदर्शनाद्युपमाः ॥ ४५ ॥

निद्रोभिद्रं पुरुपरिमलं राजतेजोविराजि
स्पष्टश्रीकं वदनकमलं देव! ते सेवतेऽदः ।
स्थानभ्रष्टं जितमिति वदन्त्येव कर्णावतंसी-
चक्रे काचिद्दशशतदलं लीलयोद्धृत्य तस्य ॥ ४६ ॥

काचित् 'दशशतदलं' सहस्रदलं लीलया 'उद्धृत्य' उद्धित्य तस्य 'कर्णावतंसीचक्रे' कर्णाभरणं विदधे । किं कुर्वती ? इति वदन्त्येव, इतीति किम् ? हे देव! 'अदः' कमलं 'ते' तव वदनकमलं भवते। कुतः सेवते ? विशेषणद्वारेण हेतुमाह—जितम् । तज्जये हेतुमाह—किंरूपं वदनकमलम् ? 'निद्रोभिद्रं' नित्यविकस्वरं, कमलं तु दिवा विकस्वरं रात्रौ सङ्कुचति, पुनः किंरूपम् ? पुरुः प्रभूतः परिमलो यस्य तत्, कमलस्य तु परिमलः परिमित एव, पुनः किंरूपम् ? 'राजतेजोविराजि' राजतेजो राजतेजसा विराजते इत्येवंशीलम्, कमलं तु राजतेजोविराजि न स्यात्, राजा चन्द्रस्तस्य तेजसा न विराजते, पुनः किंरूपम् ? स्पष्टा प्रकटा श्रीर्यस्य तत्, कमले हि श्रीः स्थितैव, किंविशिष्टं कमलम् ? स्थानाद्भ्रष्टम्, यतः स्थानभ्रष्टं येन जितं स्यात्तत्तस्य सेवां कुरुते, स्वामिनो वदनशोभाधिक्यं प्रतिपादितम् । अत्र परिकरहेतुव्यतिरेकाः ॥ ४६ ॥

स्पर्धध्वे रे! नयननलिने निर्मले देवरस्य
सितवेत्येवं शिततरतिरःकाक्षकाण्डान् किरन्ती ।
कन्दोत्खातान् धवलकमलान् कामपाशप्रकाशान्
नाशाशाशानुरसि सरसाऽहारयत् स्वामिनोऽन्या ॥४७॥

अन्या सरसा धवलकमलान् स्वामिनः 'उरसि' हृदये 'अहारयत्' हारमकरोत् । किं कृत्वा ? इत्येवं सित्वा । एवमिति किम् ? रे कमलाः ! यूयं देवरस्य निर्मले 'नयननलिने' नयनकमलाभ्यां सह स्पर्धां कुरुथ । किं कुर्वती ? 'शिततरतिरःकाक्षकाण्डान् किरन्ती' तीक्ष्णतरतिर्यक्कटाक्षबाणान् विक्षिपन्ती । किंरूपान् धवलकमलान् ? कन्दात् उत्खातान् उत्पाटितान् कन्दोत्खा-

तान्, पुनः किंरूपान् ? 'कामपाशप्रकाशान्' कामपाशवत् प्रकाशान् प्रकटान्, प्रकटः कामपाशो यादृशः स्यात्तादृशान्, पुनः किंरूपान् ? 'नाशाशास्यान्' नाशया नासिकया आशास्यान् अभिलष्यान् । अत्र कमलानि हारीकृतानि तेषामपि कामपाशारोपः कमलशब्दः पुंनपुंसकलिङ्गे । हारमकरोत् "णिज्बहुलं०" (सि० ३-४-४२) णिच्प्रत्ययः । अत्र प्रत्यनीकजातिरूपकानुप्रासाः ॥ ४७ ॥

क्रीडां हेमद्युतिहरिवधूवन्दितो बान्धवस्य
प्रीत्यै तन्वन् प्रतिकृतशतैरप्सु हर्षैकहेतुः ।
श्यामः स्वामी चिकुरविगलद्वारिधारश्चकाशे
विद्युन्मालापरिगतवपुर्वर्षुकस्त्वं यथा वा ॥ ४८ ॥

श्यामः स्वामी चिकुरविगलद्वारिधारः सन् चकाशे, चिकुरेभ्यः केशेभ्यो विगलन्ती वारिधारा यस्यासौ । किं कुर्वन् ? 'अप्सु' जलेषु 'बान्धवस्य' श्रीकृष्णस्य प्रीत्यै प्रतिकृतशतैः क्रीडां तन्वन्, कृतान् प्रति यत् क्रियते तत् प्रतिकृतमुच्यते, अन्तःपुर्यो जलच्छटाभिः स्वामिनं सिञ्चन्ति, स्वाम्यपि श्रीकृष्णस्य प्रमोदाय वारिधाराभिस्ताः सिञ्चति । किंरूपो भगवान् ? ('हर्षैकहेतुः' प्रमोदस्य एकः अद्वितीयो हेतुः, पुनः किंभूतः) 'हेमद्युतिहरिवधूवन्दितः' हेमवत् द्युतिर्यासां ता हेमद्युतयः, हेमद्युतयश्च ता हरिवध्वश्च हेमद्युतिहरिवध्वः ताभिर्वन्दितः वन्दीकृतः, यथा कोऽपि वन्दीकृतो न मुच्यते तथा ता अपि वेष्टयित्वा स्थिता भगवतो गन्तुं न ददति । क इव ? त्वमिव, यथा हे मेघ ? त्वं 'वर्षुः' मनोज्ञं वर्षन् आकाशे दीप्यसे । किंरूपः (त्वम्) ? विद्युन्माला सौदामिनीपङ्क्तिस्तया परिगतं वेष्टितं वपुर्यस्य सः, हरिवध्वो विद्युन्माला, गलज्जलधारा च वृष्टिः, स्वामी च मेघः । चकाशे इत्यत्र "काशृङ् दीप्तौ" इति धातोः परोक्षाप्रत्ययान्तस्य रूपम् । अत्र जातिनिदर्शनानुप्रासाः ॥ ४८ ॥

अथान्तोऽनि भ्रममिव वहन् व्यक्तक्लृप्तापिताम्भो-
बिन्दूत्क्षेपोन्मदकलशामुत्करक्ताहराढः ।

श्रीमान्नेमिर्जलपतिकफत्पुण्डरीकप्रकाण्डो
धारांराशेरिव सुरकरी पुष्करिण्या निरैयः ॥ ४९ ॥

श्रीमान्नेमिः 'पुष्करिण्याः' दीर्घिकायाः 'निरैयः' निरगच्छत् । क इव ? 'सुरकरी इव' यथा सुरकरी ऐरावणो 'धारांराशेः' समुद्रान् निरियर्त्ति (स्म)। किंरूपो भगवान् ? 'अश्रान्तोऽपि' अनिर्विण्णोऽपि श्रमं वहन्निव, यद्यपि भगवाननन्तवीर्यत्वात् क्रीडया खेदं नाप्नोति तथापीमा अपारसार्थिक्य इत्यनादरेण श्रममिव वहन् । पुनः किंरूपः ? 'व्यक्तमुक्तायिताम्भोबिन्दुः' व्यक्तं स्पष्टं मुक्तावदाचरिता अम्भोबिन्दवो यस्य स व्यक्तमुक्तायिताम्भोबिन्दुः, यथा ऐरावणस्य समुद्रे क्रीडित्वा निर्गतस्य मुक्ताः शरीरे लगन्ति, स्वामिनस्तु मुक्तासदृशा अम्भोबिन्दवः, एवं सर्वत्रैरावणधर्मो ज्ञेयः । पुनः कथंभूतः ? रक्तोत्पलदलानां लवैः पद्मशकलैर्युक्ता धद्मा रक्ताङ्गानां प्रवालानां घटा शोभा यस्य सः, समुद्रान्तः प्रवालानि अत्र च रक्तोत्पलदलशकलानि । पुनः किंरूपः ? जलपतिकफः फेनस्तद्वदाचरन्तः पुण्डरीकप्रकाण्डा धवलकमलमूलानि यस्य सः, ऐरावणस्य शरीरे फेनो लगति, प्रभोः फेनतुल्याः पुण्डरीकप्रकाण्डाः । निरैयरित्यत्र "ऋक् गतौ" क्र निर्पूर्वः, ह्यस्तनी–दिव्, "हुवः शिति" (सि० ४–१–१२) द्विः, "ऋतोऽत्" (सि० ४–१–३८) ऋ अ, "पृभृमाहाङामिः" (सि० ४–१–५८) इत्वम्, "पूर्वस्यास्वे स्वरे य्वोरियुव्" (सि० ४–१–३७) इय्, "स्वरादेस्तासु" (सि० ४–४–३१) वृद्धिः ऐ, "नामिनो गुणोऽक्ङिति" (सि० ४–३–१) अर्, "व्यञ्जनादेः सश्च दः" (सि० ४–३–७८) दिव्लोपः, "रः पदान्ते विसर्गस्तयोः" (सि० १–३–५३) विसर्गः । अत्र रूपकनिदर्शनोपमानुप्रासालङ्काराः ॥ ४९ ॥

इत्याचार्य-श्रीशीलरत्नसूरिविरचितायां श्रीजैनमेघदूत-
महाकाव्यटीकायां द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

अथ तृतीयः सर्गः ।

पूर्वस्मिन् सर्गे भगवान् जलक्रीडां कृत्वा निर्गत इति तद्वसरोचितां चेष्टामाह—

तस्योत्तंसीकृतशतदले तोयबिन्दून् वमन्ती
पश्चात्साते विरुतनिरतालोलरोलम्बचुम्ब्ये ।
हा! त्रैलोक्यप्रभुनयनयोः स्पर्धनादेनसां नौ
वृत्ते पात्रे प्ररुदित इतीवानुतप्ते सशब्दम् ॥ १ ॥

'तस्य' भगवतः 'उत्तंसीकृतशतदले' कर्णाभरणीकृतशतपत्रे 'पश्चात्साते' रेजाते। किं कुर्वती? 'तोयबिन्दून् वमन्ती' उदकबिन्दून् स्रवन्ती, पुनः किंरूपे? विरुतेषु शब्देषु निरता आसक्ता आलोलाः चञ्चला रोलम्बा भ्रमराः तैश्चुम्ब्ये चर्वणीये। उत्प्रेक्ष्यते—इति 'अनुतप्ते' पश्चात्तापतापिते सती सशब्दं 'प्ररुदित इव' प्रकृष्टं रुदित इव। इतीति किम्? 'नौ' आवां 'हा' धिक्, किंरूपे नौ? 'त्रैलोक्यप्रभुनयनयोः' श्रीनेमिनयनयोः स्पर्धनात् 'एनसां' पापानां 'पात्रं' भाजनं 'वृत्ते' जाते, तोयबिन्दुस्रवणं रोदनं भ्रमरारवश्च सशब्दपश्चात्तापतयोत्प्रेक्षाश्चक्रे। नौ इत्यत्र हायोगे "गौणात् समयानिकषाहाधिगन्तरान्तरेणातियेनतेनैर्द्वितीया" (सि० २-२-३३) इति द्वितीया। प्ररुदित इत्यत्र "रुत्पञ्चकाच्छिदयः" (सि० ४-४-८८) इतीट्। अत्रोत्प्रेक्षानुमानानुप्रासाः ॥ १ ॥

दानश्च्योती द्विप इव झरन्निर्झरो वाञ्जनाद्रिः
पिण्डीभूतं वियदिव मनाक् शारदं वर्षदब्दम् ।
निन्ये सर्वापघननिपतन्मेघपुष्पोऽञ्जनाभः
श्रीमान्नेमिः सपरिवृढतां फुल्लकङ्केल्लिमूलम् ॥ २ ॥

श्रीमान्नेमिः फुल्लो विकसितः कङ्केल्लिः अशोकस्तस्य मूलं सपरिवृढतां सनाथतां निन्ये, एतावता कङ्केल्लिमूले प्रभुस्तस्थावित्यर्थः। किंरूपो ...न्? 'सर्वापघननिपतन्मेघपुष्पः' सर्वेऽपघना अङ्गावयवास्ते-

ध्यो नियम इयत् मेघपुष्पं जलं यस्य, पुनः किंरूपो भगवान् ? 'अभ्रनाभः' अभ्रसदृशः । गलज्जलबिन्दून् वर्षे धारिव तदनुरूपा श्लेषेणाह, उत्प्रेक्ष्यते—'दानस्रोतः' दानं मदजलं स्रोतसीनि क्षरन्तीनि ईदृशो 'द्विपः' गज इव, उत्प्रेक्ष्यते—'सरभिर्भरः' निर्झरवान् अञ्जनाद्रिर्वा इव, वा इवार्थे, अथवा उत्प्रेक्ष्यते—पिण्डीभूतं 'शारदं' शरत्संबन्धि 'वियत्' आकाशमिव । किंविशिष्टं वियत् ? 'सनाथं' अन्यं 'धर्मदं' वर्षन् अब्दो मेघो यस्मिन् तत् । अत्र सागरूपोऽश्लेषपर्यायोक्तानुप्रासाः ॥ २ ॥

गोप्तुं शक्ते अपि गुणवती नैव मद्धाजडानां
गुप्तं भर्तुर्मदनलमनयोः सेवयैवेष नूर्णम् ।
स्रोतस्पाथःपृषतमिषतः साश्रुणी वानिशक्ते
अप्यत्याक्षीत् परिहितपरे वाससी वासहार्ये ॥ ३ ॥

'एषः' भगवान् इति 'परिहितपरे' पूर्वं परिहिते 'वाससी' वस्त्रे 'नूर्णं' शीघ्रं 'अत्याक्षीत्' त्यक्तवान् । इतीति किम् ? इमे गुणवती अपि जडानां सकाशात् भर्तुर्गुप्तं गोप्तुं न शक्ते, गुणास्तन्तवः, 'गुप्तं' आच्छादनमङ्गम्, 'तत्' तस्मात्कारणात् अनयोः सेवया 'अलं' पूर्यताम् । अत्रान्योक्तिमाह—अन्योऽपि यो गुणवानपि 'जडानां' मूर्खाणां सकाशात् 'भर्तुर्गुप्तं' रहस्यं 'गोप्तुं' रक्षितुं शक्तो न भवति स स्वामिनः सेवकस्त्याज्यो भवति । किंरूपे वाससी ? उत्प्रेक्ष्यते—'स्रोतस्पाथःपृषतमिषतः साश्रुणी' 'वा' इवार्थे स्रोतस्तः क्षरन्तः पाथसो जलस्य पृषता बिन्दवस्तेषां मिषतः कपटात् साश्रुणी अश्रुयुक्ते इव, पुनः किंरूपे ? 'अत्या(नि)सक्ते अपि' अत्यर्थमासक्ते उभे अपि । अन्योऽपि यः सेवकोऽत्यासक्तोऽतिभक्तो यदा केनचिद्दोषेण त्यज्यते तदा स साश्रुर्भवति । पुनः किंरूपे ? अतिरक्तगुणत्वात् 'श्वासहार्ये' श्वासेन हरणीये । साश्रुणी वेति ... इवसाम्यप्रयोगेऽपि मणी इव मणीवेत्यादिवत् परमतेन ...

यथा नैषधे–"मणीव नीलौ तरलौ विरेजतुः" । शुक्लशब्दोऽत्र-
रान्तोऽप्यस्ति "धवलशुक्लविशुद्धः" (अभि० चिन्ता० ४–१५५) इति
वचनात् । पूर्वं परिहिते परिहितपूर्वे "भूतपूर्वे ष्वरट्" (सि० ७–२–
७८) षरट्प्रत्ययः । अत्र समासोक्तिकाव्यलिङ्गोत्प्रेक्षानुप्रासाः ॥३॥

मूर्ध्नो मूर्ध्न्यनुपममहमा गीपते शम्बरस्या-
रातिस्त्वत्परिचितिरनौचित्यमाविर्विधत्ते ।
इत्यूचाना निजशुचिसिचा भीष्मजोन्मृज्य यस्मा-
न्नैषीचे ते स शमितविशदे वाससी पर्यधत्त ॥ ४ ॥

'भीष्मजा' रुक्मिणी ये 'वाससी' वस्त्रे आनैषीत् 'सः' भगवान्
'ते' वाससी 'पर्यधत्त' परिहितवान् । किं कृत्वा ? 'निजशुचिसिचा'
निज[illegible] तया 'यस्मै' शरीरं 'उन्मृज्य' निर्जलं कृत्वा, [illegible]
[illegible] । किं कुर्वाणा भीष्मजा ? 'इति ऊचाना' इति जल्पन्-
ती, इतीति किम् ? हे देवर ! त्वं 'मूर्ध्नो' शरीरेण मूर्धः [illegible]
[illegible] 'आरातिः' शत्रुः कामः 'गीपते' कथ्यते । [illegible]
मूर्ध्नः ? अनुपममहमा । [illegible] '[illegible]' [illegible]
[illegible] 'अनौचित्यं' अनुचितत्वं 'आविर्विधत्ते' प्रकटी-
करोति, [illegible]
[illegible]
[illegible] । [illegible] वाससी ? 'शमितविशदे' [illegible]
[illegible] । अत्र [illegible]नुप्रासः ॥ ४ ॥

[illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥ ५ ॥

[illegible]
[illegible]

रिष्टरत्नानां रेखास्तासां लेखाभिः श्रेणिभिः आलोक्ये विलोकनार्हे, अथवा रेखाभिर्लेखानां देवानामपि आलोक्ये विलोकनीये । पुनः किंरूपे ? 'तयैव' रुक्मिण्यैव 'संप्रयुक्ते' स्थापिते । किंरूपो भगवान् ? 'सितनिवसनः' सितानि श्वेतानि निवसनानि वस्त्राणि यस्य सः । तथा तस्मिन्नवसरे विभुस्त्वामेव 'सस्मरति स्म' अस्मरत्, जनमिति कर्माध्याहारः, जनस्त्वामस्मरत्, प्रभुर्जनं त्वां स्मरयति स्म । किंरूपं त्वाम् ? 'स्वर्णशैले' मेरुगिरौ 'निषण्णं' निविष्टम् । किंरूपे स्वर्णशैले ? 'नन्द्यावर्तावलिवलयिनि' नन्द्यावर्तानां वृक्षाणामावलिः श्रेणिस्तस्या वलयं विद्यते यस्मिन् स तस्मिन् । पुनः किंरूपं त्वाम् ? सन् प्रधानो बलाकानां कलापो यस्मिँस्तम् । मेघः स्वामी, स्वर्णशैलः सिंहासनम्, वृक्षावलिवलयमरिष्टरेखा, बलाकाकलापः श्वेतवस्त्राणि । न्यविशतेति "निविशः" (सि० ३-३-२४) इत्यात्मनेपदम् । सुवर्णस्य विकारोऽवयवो वा सौवर्णम्, "हेमादिभ्योऽञ्" (सि० ६-२-४५) अञ्प्रत्ययः । स्मरयतीत्यत्र "स्मृं आध्याने" इति स्मृधातुर्णिगन्तः, वृद्धौ सत्यां "घटादेर्ह्रस्वो०" (सि० ४-२-२४) इत्यादिसूत्रेण ह्रस्वः । अत्र स्मरणानुप्रासो ॥ ५ ॥

> विष्णोः पत्न्यः प्रकृतय इव स्पष्टमष्टासु काष्ठा-
> स्वष्टाप्येतं परमपुरुषं कर्मणां पर्यवृण्वन् ।
> भावान्वायिस्थितिविरचना व्यक्तसद्वेषरागा
> भोगासक्ता विविधरुचयः सङ्गतात्मप्रदेशाः ॥ ६ ॥

अष्टापि विष्णोः पत्न्यः स्पष्टं यथा भवति अष्टास्वपि काष्ठासु एतं 'परमपुरुषं' भगवन्तं 'पर्यवृण्वन्' परिवृतवत्यः । का [illegible] ? 'कर्मणां प्रकृतय इव' यथा कर्मणां प्रकृतयः परमपुरुषं आत्मानं परिवृण्वन्ति । किंविशिष्टा विष्णोः पत्न्यः प्रकृतयश्च? "भावान्वायिस्थितिविरचना" इति भावः स्त्रीणामङ्गजो विकारः किलिकिञ्चितादिः तदन्वायिनी तदनुगामिनी स्थितिः देहावस्था यस्या भुजोत्क्षेपनयनोल्लासादेर्विरचनं यासां ताः, भावानुमानेन देहावस्थानं विरचयन्त्यः । पक्षे भावो

मनःपरिणामस्तदन्वायिनी तदनुगामिनी स्थितिः कालावधारणं तस्या विरचनं यासां ताः, कर्मणां हि स्थितिर्मनःपरिणामेन बध्यते, यथा यथा क्लिष्टः परिणामः तथा तथा कर्मणां स्थितिर्वर्धते, "ठिइअणुभागं कसायओ कुणइ" इति वचनात् । यथा ज्ञानावरणस्य त्रिंशत्सागरकोटाकोटिमाना स्थितिः, एवं शेषाणामपि । पुनः किंरूपाः ? 'व्यक्तसद्वेषरागाः' व्यक्तः स्पष्टः सन् प्रधानो वेषे शृङ्गाररूपे रागो यासां ताः, 'भोगामुक्ताः' भोगैरामुक्ताः, प्रकृतिपक्षे व्यक्तः प्रकटः सद्वेषो द्वेषसहितो यो रागस्तस्याऽऽभोगो विस्तारस्तेन आमुक्ता बद्धाः, रागद्वेषविस्तारेण कर्मबन्ध इति । पुनः किंरूपाः ? 'विविधरुचयः' विविधा बहुप्रकारा रुचिः इच्छा कान्तिर्वा यासां ताः, प्रकृतिपक्षे विविधा रुचिः इच्छा भोगसुखस्त्र्यादिका याऽभ्यस्ताः, कर्मप्रकृतिप्रेरणयैवाऽऽत्मनो विविधवाञ्छासंभवात् । सङ्गतो युक्त आत्मनः प्रदेशोऽवस्थानरूपो यासां ताः, युक्ते युक्ते स्थाने स्थिता इत्यर्थः, प्रकृतिपक्षे सङ्गता मिलिता आत्मनः प्रदेशा यासां ताः, आत्मनः प्रदेशैर्हि कर्मस्कन्धप्रदेशा वह्न्ययःपिण्डन्यायेन सङ्गताः श्लिष्टा वर्तन्ते इति । अत्रोपमानश्लेषानुप्रासाः ॥ ६ ॥

आचख्यावित्यथ सविनयं भीष्मजा राजदन्त-
ज्योत्स्नाव्याजान्मलयजरसैः स्वामिनं सिञ्चती तम् ।
विश्वेवास्मान् सहसि भगवन्नुत्सवे यद्विराड्वत्
श्री गङ्गेयाविरमति शिरो मानिनाऽपीश्वरस्य ॥ ७ ॥

'अथ' अनन्तरं 'भीष्मजा' रुक्मिणी सविनयं यथा भवति 'आचख्यौ' जगाद । किं कुर्वती ? राजदन्तज्योत्स्नाव्याजान् [illegible]' चन्दनरसैः तं स्वामिनं सिञ्चती, राजदन्ता मुख्य- [illegible] शिरोमान्येव बहुलत्वात् ज्योत्स्नेव ज्योत्स्ना तस्या व्याजात् कपटात् । इतीति किम् ? हे भगवन् ! येन यदि त्वं 'विश्वा इव' पृथ्वी इव भगवान् 'सहसि' क्षमसे, यथा पृथिवी मर्यादा तथा त्वमपि अस्माकमनुचितवचनैरपि न कुप्यसि 'तत्' तस्मात् 'विराड्'

निःशङ्कं 'उदयसे' त्वं जल्पसे, श्री मानिता सती गङ्गेव ईश्वर-भ्यापि शिरोऽधिवसति, यथा गङ्गा ईश्वरेण मानिता सती शिरोऽधिवसौ । अत्र दन्तानां राजा राजदन्तः "राजदन्तादिषु" (सि० ३-१-१४९) अनेन राजशब्दस्य प्राग्निपातः । सहसीति "षह मर्षणे" षह्, "धात्वादेः षः सो-" (सि० २-३-९८) सह्, "युजादेर्न वा" (सि० ३-४-१८) इति विकल्पेन णिजभावः । उद्यसे इति "वशक् कान्तौ" वश् ते कः, "वशेरयङि" (सि० ४-१-८३) वकारस्य य्वृत् च । अधिवसतीति योगे शिर इत्यत्र "उपान्वध्याङ्वसः" (सि० २-२-२१) अनेन आधारस्य कर्मत्वम् । अत्रातिशयोक्ति-अपह्नुति-उपमानार्थान्तरन्यासाः ॥ ७ ॥

पुनरपि रुक्मिणी वाक्यमाह—

रूपं कामस्तव निशमयन् व्रीडितोऽभूदनङ्गो
लावण्यं चाबिभ ऋभुविभुर्लोचनानां सहस्रम् ।
तारुण्यश्रीर्व्यशिषदथ ते पुष्पदन्तौ शरद्व-
न्नेताऽरण्यप्रसवसमतां त्वं विना स्त्रीरमूनि ॥ ८ ॥

हे देवर! कामस्तव रूपं 'निशमयन्' विलोकयन् सन् 'व्रीडितः' लज्जितोऽनङ्गोऽभूत्, अग्रे काम एव रूपवानिति प्रसिद्धिरभूत्, यदा च भगवतो रूपं लोकोत्तरमात्माधिकं दृष्टं तदा तेन लज्जितेनाङ्गमेव त्यक्तं तदाप्रभृत्यनङ्गोऽभूत् । 'ऋभुविभुः' इन्द्रः तव लावण्यं निशमयन् लोचनानां सहस्रं 'अबिभः' अधरत्, इन्द्रस्तु लावण्यं विलोकयन् द्वाभ्यां लोचनाभ्यां द्रष्टुमक्षमत्वाल्लोचनसहस्रं बभार । 'अथ' अनन्तरं तारुण्यश्रीः ते रूपलावण्ये 'व्यशिषत्' विशिनष्टि स्म, किंवत्? 'शरद्वत्' यथा शरत् 'पुष्पदन्तौ' चन्द्रसूर्यौ विशिनष्टि । त्वं 'अमूनि' रूपलावण्यतारुण्यश्रियः स्त्रीर्विना 'अरण्यप्रसवसमतां' अरण्यपुष्पतुल्यतां 'नेता' प्रापयिता, यथाऽरण्यपुष्पाणि कस्यापि कार्ये नाऽऽयान्ति एवं तवापि रूपलावण्यतारुण्यानि पाणिग्रहणं विना स्त्रीभोगाभावात् व्यर्थानि भविष्यन्ति ।

निशामयन् अत्र णिग् स्वार्थे यथा पालयतीति, ततः "शमोऽदर्शने" (सि० ४-२-२८) इतिसूत्रेण दर्शनार्थे ह्रस्वो न स्यात्, तेन निशामयन् स्यात्, परं केचित्तु दर्शनेऽपीच्छन्ति । अबिभः "डुडुभृंग्क् पोषणे च" भृ, ह्यस्तनी-दिव्, "अड् धातोरादि०" (सि० ४-४-२९), "हवः शिति" (सि० ४-१-१२) द्विः, "ऋतोऽत्" (सि० ४-१-३८) अत्, "द्वितीयतुर्ययोः प्रथमतृतीयौ (पूर्वौ)" (सि० ४-१-४२) भ ब, "पृभृमाहाङामिः" (सि० ४-१-५८), "नामिनो गुणो०" (सि० ४-३-१) अर्, "व्यञ्जनादेः सश्च दः" (सि० ४-३-१८) दिलोपः । व्यशिपन् "शिप्लंप् विशेषणे" अद्यतनी-दि, "लृदित्" (सि० ३-४-६४) अ । पुष्पः० "पुष्पदन्तौ पुष्पवन्तावेकोक्त्या शशिभास्करौ" (अभिधानचि० का० २-३८) इति । स्त्रीरित्यत्र "विना ते तृतीया च" (सि० २-२-११५) इति द्वितीया । इदं रूपं च इदं लावण्यं च इयं तारुण्यश्रीश्च अमूनि "समानामर्थेनैकः शेषः" (सि० ३-१-११८) एकशेषः, "स्त्रीपुंनपुंसकानां सहवचने स्यात्परं लिङ्गम्" (लिङ्गानुशासने) इति नपुंसकलिङ्गम् । अत्रोदात्तदृष्टान्तकाव्यलिङ्गालङ्काराः ॥ ८ ॥

अथ जाम्बवत्याह—

नाभेयोपक्रममिह यथा श्रायसोऽध्वा तथैयो-
द्वाहस्यापि सरसि तदुपज्ञं न किं देवरेति ।
सत्यां देवीं स्तुतिमपसृजन् कोऽपि नूनोऽसि सार्वो
हारीभूतद्विजमणिघृणिर्जाम्बवत्यप्यगासीत् ॥ ९ ॥

जाम्बवत्यपि 'इति अगासीत्' एवमवादीत् । किंभूता जाम्बवती ? 'हारीभूतद्विजमणिघृणिः' हाररूपतया भूता द्विजमणीनां दन्तमणीनां घृणयः (कान्तयः) यस्याः सा । इतीति किम् ? 'इह यथा श्रायसोऽध्वा नाभेयोपक्रमं' इह जगति यथा येन प्रकारेण श्रायसो मोक्षसंबन्धी अध्वा मार्गो नाभेयस्य श्रीआदिदेवस्य उपक्रमं

कृता रतिर्येन सः, पक्षे जले कृता रतिर्येन सः । दीर्घनिद्रां मरणं अभिलषतीति, पक्षे दीर्घा वह्नी निद्रामभिलषतीति, ग्रीष्मे हि निद्राप्राचुर्यं स्यात् । शोभनो राजा यस्मिन् स राजन्वान् "राजन्वान् सुराज्ञि" (सि० २–१–९८) इति निपातः । अवोभूयिष्टेति चेक्रीयतान्तस्य भूधातोरद्यतनीतप्रत्यये रूपम् । अत्र परिकरविरोधश्लेषाः ॥ ३५ ॥

ऊष्मोत्कर्षान्न सुखमस्वपत् सौधमाध्यन्दिनोर्वी
लूकालोकोदयदरतितः सौधमूर्धाधिवासः ।
दूरीकृत्य द्वयमिति जले केलिकामः सनेमिः
शौरिर्लीलोपवनमसरत्तूरसंहूतपौरः ॥ ३६ ॥

'शौरिः' विष्णुः 'लीलोपवनं' क्रीडावनं असरत् । किंरूपः शौरिः ? 'सनेमिः' नेमिसहितः । पुनः किंरूपः ? 'तूरसंहूतपौरः' तूरैः वाद्यैः संहूताः पौराः नागरा येन सः । अतो वाद्यरवं श्रुत्वा लोका अपि तत्र गताः । पुनः किंविशिष्टः शौरिः ? इति द्वयं सौधमध्यगृहोर्ध्ववासलक्षणं 'दूरीकृत्य' परिहृत्य जले 'केलिकामः' केलौ कामोऽभिलाषो यस्य सः । इतीति किम् ? 'सौधमध्यन्दिनोर्वी' आवासमध्यभूमिः 'ऊष्मोत्कर्षात्' घर्मप्राचुर्यात् सुखं न अस्वपत्, 'सौधमूर्धाधिवासः' सौधोपरितनभूमिः 'लूकालोकोदयदरतितः सुखं नास्वपत्' लूकालोऽग्नोल्का वह्नी उद्यन्ती उत्पद्यमाना अरतिः तस्याः सकाशात् । सौधमध्ये तापव्यापः, सौधोपरि लूकाद्देशः इति द्वयं परिहृत्य जले क्रीडितुं श्रीकृष्णः श्रीनेमिना सह सपौरलोकः क्रीडावनमगादित्यर्थः । अस्वपदित्यत्र "रुदिस्वपुतादि पुण्यादेः" (सि० ३–४–६४) इति अड् । सौधमाध्यन्दिनोर्वी मध्ये भवा [illegible] "मध्यादिनण्णेया मोऽन्तश्च" (सि० ६–३–१२६) [illegible], वृद्धिः, ङी, माध्यन्दिनी चासौ उर्वी च माध्यन्दिनोर्वी, "पुंवत्कर्मधारये" (सि० ३–२–५७) पुंवद्भावः । अत्र काव्यलिङ्गपर्यायोक्तसहोक्त्यलङ्काराः ॥ ३६ ॥

आद्यं कृत्यम्, श्रीआदिदेवेन प्रथमं दर्शित इत्यर्थः, तथैव उद्वाह-स्यापि अथवा 'तदुपज्ञं' तस्यैव श्रीआदिदेवस्य उपज्ञं आद्यज्ञानम्, यतः—"उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यात्" (अभिधानचि०का० ६–९) इति, ततः क्लीबत्वे "क्लीबे" (सि० २–४–९७) ह्रस्वः, विवाहस्यापि मार्गः प्रथमं येनैव दर्शितः, हे देवर! इति किं न स्मरसि? 'तत्' तस्मात्कारणात् त्वं तां 'दैवीं' देवसंबन्धिनीं 'सृतिं' मार्गं 'अप-मृजन्' लुम्पन् कोऽपि 'नूत्नः' नवीनः 'सार्वः' सर्वज्ञोऽसि। उपक्रमं उपज्ञं इत्यत्र "आद्यावुपक्रमोपज्ञे" (लिङ्गा० नपुं० ११) इति नपुंसकलिङ्गम्। श्रेयो मोक्षः श्रेयसोऽयं श्रायसः "तस्येदम्" (सि० ६–३–१६०) अण्प्रत्ययः, "देविकाशिंशपादीर्घसत्रश्रेय-सस्तत्प्रात्तावाः" (सि० ७–४–३) एकारस्य आकारः। देव-स्येयं दैवी अण् ङी। अहारो हारो भूताः हारीभूताः अभूततद्भावे च्विः, "ईश्चाववर्णस्यानव्ययस्य" (सि० ४–३–१११) ई। "कै गै रै शब्दे" गै, "आत् सन्ध्यक्षरस्य" (सि० ४–२–१) गा, अद्यतनी–दि, "सिजद्यतन्याम्" (सि० ३–४–५३) सिच् "सः सिजस्तेर्दिस्योः" (सि० ४–३–६५) ईआगमः, "यमि-रमिनम्यातः सोऽन्तश्च" (सि० ४–४–८६) इट् सोऽन्तः, "इट ईति" (सि० ४–३–७१) सिच्लोपः। अतस्त्वं पूर्वं पाणि-ग्रहणं कृत्वा पश्चाद्व्रतं ग्रहीयाः, इति श्रीऋषभप्रणीतौ द्वावपि मार्गौ समाचीर्णौ स्तः। अत्र काव्यलिङ्गदृष्टान्तनिदर्शनाऽलङ्काराः॥ ९॥

अथ लक्ष्मणाऽऽह—

गामानैषीद्वदनसदनं लक्ष्मणा लक्ष्मणास्ते
लक्ष्मीर्येषां घनवनमिवान्योपयोगैककृत्या।
त्वद्रूपश्रीर्जलधिजलवच्चोपजीव्या परैश्चेत्
तल्लोके कैर्विरस इति नो तर्क्यसे तद्वदेव॥ १०॥

लक्ष्मणा वदनसदनं 'गामानैषीत्' गां वाणीं, एतावता उवाचे-त्यर्थः, अन्याऽपि गौः सदनं गृहमानीयते। लक्ष्मणावाच्यमाह—

निशामयन् अत्र णिग् स्वार्थे यथा पालयतीति, ननः "ज्ञमोऽदर्शने" (सि० ४-२-२८) इतिसूत्रेण दर्शनार्थे ह्रस्वो न स्यात्, तेन निशामयन् स्यात्, परं केचित्तु दर्शनेऽपीच्छन्ति । अबिभः "डुडुभृंगक् पोषणे च" भृ, ह्यस्तनी-दिव्, "अड् धातोरादि०" (सि० ४-४-२९), "ह्वः शिति" (सि० ४-१-१२) द्विः, "ऋतोऽत्" (सि० ४-१-३८) अत्, "द्वितीयतुर्ययोः प्रथमतृतीयौ (पूर्वौ)" (सि० ४-१-४२) भ ब, "पृभृमाहाङामिः" (सि० ४-१-५८), "नामिनो गुणो०" (सि० ४-३-१) अर्, "व्यञ्जनादेः सश्च दः" (सि० ४-३-१८) दिलोपः । व्यशिषन् "शिष्लृंप् विशेषणे" अद्यतनी-दि, "लृदित्" (सि० ३-४-६४) अ । पुष्पः० "पुष्पदन्तौ पुष्पवन्तावेकोक्त्या शशिभास्करौ" (अभिधानचि० का० २-३८) इति । स्त्रीरित्यत्र "विना ते तृतीया च" (सि० २-२-११५) इति द्वितीया । इदं रूपं च इदं लावण्यं च इयं तारुण्यश्रीश्च अमूनि "समानामर्थेनैकः शेषः" (सि० ३-१-११८) एकशेषः, "स्त्रीपुंनपुंसकानां सहवचने स्यात्परं लिङ्गम्" (लिङ्गानुशासने) इति नपुंसकलिङ्गम् । अत्रोदात्तदृष्टान्तकाव्यलिङ्गालङ्काराः ॥ ८ ॥

अथ जाम्बवत्याह—

नाभेयोपक्रममिह यथा श्रायसोऽध्वा तथैवो-
द्वाहस्यापि सरसि तदुपज्ञं न किं देवरेति ।
तत्तां देवीं स्तुतिमपमृजन् कोऽपि नूलोऽसि सार्वो
हारीभूतद्विजमणिघृणिर्जाम्बवत्यप्यगासीत् ॥ ९ ॥

जाम्बवत्यपि 'इति अगासीत्' एवमवादीत् । किंभूता जाम्बवती ? 'हारीभूतद्विजमणिघृणिः' हाररूपतया भूता द्विजमणीनां दन्तमणीनां घृणयः (कान्तयः) यस्याः सा । इतीति किम् ? 'इह यथा श्रायसोऽध्वा नाभेयोपक्रमं' इह जगति यथा येन प्रकारेण श्रायसो मोक्षसंबन्धी अध्वा मार्गो नाभेयस्य श्रीआदिदेवस्य उपक्रमं

आर्यं कृत्यम्, श्रीआदिदेवेन प्रथमं दर्शित इत्यर्थः, तथैव उद्वाहस्यापि अथवा 'तदुपज्ञं' तस्यैव श्रीआदिदेवस्य उपज्ञं आद्यज्ञानम्, यतः—"उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यात्" (अभिधानचि०का० ६–९) इति, ततः क्लीबत्वे "क्लीबे" (सि० २–४–९७) ह्रस्वः, विवाहस्यापि मार्गः प्रथमं तेनैव दर्शितः, हे देवर! इति किं न स्मरसि? 'तत्' तस्मात्कारणात् त्वं तां 'दैवीं' देवसंबन्धिनी 'सृतिं' मार्गं 'अपमृजद्' लुम्पन् कोऽपि 'नूत्नः' नवीनः 'सार्वः' सर्वज्ञोऽसि। उपक्रमं उपज्ञं इत्यत्र "आदावुपक्रमोपज्ञे" (लिङ्गा० नपुं० ११) इति नपुंसकलिङ्गम्। श्रेयो मोक्षः श्रेयसोऽयं श्रायसः "तस्येदम्" (सि० ६–३–१६०) अण्प्रत्ययः, "देविकाशिंशपादीर्घसत्रश्रेयसस्तत्प्राप्तावाः" (सि० ७–४–३) एकारस्य आकारः। देवस्येयं दैवी अण् ङी। अहारो हारो भूताः हारीभूताः अभूततद्भावे च्विः, "ईश्च्यावर्णस्यानव्ययस्य" (सि० ४–३–१११) ई। "कै गै रै शब्दे" गै, "आत् सन्ध्यक्षरस्य" (सि० ४–२–१) गा, अद्यतनी–दि, "सिजद्यतन्याम्" (सि० ३–४–५३) सिच् "सः सिजस्तेर्दिस्योः" (सि० ४–३–६५) ईआगमः, "यमिरमिनम्यातः सोऽन्तश्च" (सि० ४–४–८६) इट् सोऽन्तः, "इट ईति" (सि० ४–३–७१) सिच्लोपः। अतस्त्वं पूर्वं पाणिग्रहणं कृत्वा पश्चाद्व्रतं ग्रहीष्याः, इति श्रीऋषभप्रणीतौ द्वावपि मार्गौ समाचीर्णौ स्तः। अत्र काव्यलिङ्गदृष्टान्तनिदर्शनालङ्काराः ॥ ९ ॥

अथ लक्ष्मणाऽऽह—

गामानैषीद्वदनसदनं लक्ष्मणा लक्ष्मणास्ते
　　लक्ष्मीर्येषां धनवनमिवान्योपयोगैककृत्या।
त्वद्रूपश्रीर्जलधिजलवद्योपजीव्या परं चेत्
　　तल्लोके कविरस इति नो तन्यसे तद्वदेव ॥ १० ॥

लक्ष्मणा वदनसदनं 'गामानैषीत्' गां वाणीं, एतावता उवाचेत्यर्थः, अन्याऽपि गौः सदनं गृहमानीयते। लक्ष्मणावाक्यमाह—

'लक्ष्मणाः' लक्ष्मीवन्तस्ते येषां लक्ष्मीः 'धनवर्नमिव' मेघजलमिव 'अन्योपयोगैककृत्या' अन्योपयोग एव परोपकार एव एकं कृत्यं यस्याः सा, येषां लक्ष्मीः परोपकारे समेति ते लक्ष्मीवन्तः, यथा मेघजलं परोपकारे एति। 'चेत्' यदि त्वद्रूपश्रीः परैर्न उपजीव्या, किंवत्? 'जलधिजलवत्' यथा जलधिजलं परैर्नोपजीव्यते, 'तत्' तस्मात्कारणात् त्वं लोके कैः पुरुषैः 'तद्वदेव' समुद्रवदेव विरस इति 'नो तर्क्यसे?' नो विचार्यसे?, विरसः शृङ्गाररसरहितत्वान्नीरसः, अपि तु सर्वैरपि विचार्यसे, यथा समुद्रः सर्वैरपि विरस इति कथ्यते विरुद्धो रसो यस्येति विरसः क्षार इत्यर्थः, तथा त्वमपि विरसः कथ्यसे। लक्ष्मीर्विद्यते येषां ते लक्ष्मणाः "लक्ष्म्या अनः" (सि० ७-२-३२) अनप्रत्ययः, "अवर्णे-वर्णस्य" (सि० ७-४-६८) ईलोपः, "रषृवर्णान्नो णः०" (सि० २-३-६३) इति नस्य णत्वं। धनवनमिव जलधिजलवदित्यत्र यद्यपि लिङ्गभेद उपमादोषः तथाप्ययं क्वापि क्वापि प्रयुज्यते, यथा वाग्भटालङ्कारे—"हिममिव कीर्तिर्धवला" (४-५९) इति। अत्र पर्यायोक्ततुल्ययोगितोपमानानुप्रासाः। अत्र तव रूपलक्ष्मीः कयाद्युपभोगे सति सरसा स्यादिति विशेषे प्रस्तुते सति सामान्यरूपाया लक्ष्म्या उक्तिरिति तुल्ययोगिता, "कार्ये निमित्ते सामान्ये, विशेषे प्रस्तुते सति। तदन्यस्य वचस्तुल्ये, तुल्यस्येति च पञ्चधा॥ १॥" ॥ १०॥

अथ सुसीमा प्राह—

उत्तस्थेऽथो सपदि गदितुं वाग्मिसीमा सुसीमा
धीमन्! पथ्याकल इव गृही न प्रणाय्यः प्रणाय्यः।
तत्त्वं तन्वन्ननु गुरुगिरा सद्वितीयां द्वितीयां
प्राप्यस्तस्या विधुरिव कलाः सर्वपक्षे वलक्षे॥ ११॥

'अथो' अनन्तरं सुसीमा 'सपदि' तत्कालं 'गदितुं' वक्तुं 'उत्तस्थे' उद्युक्ता बभूवेत्यर्थः। किंभूता सुसीमा? 'वाग्मिसीमा'

वाग्मिनां वाचोयुक्तीनां सीमा मर्यादा, अत्यर्थं वाग्मिनीत्यर्थः । हे धीमन्! 'पश्य' विलोकय 'गृही' गृहस्थः 'प्रणाय्यः' निष्कामः सन् 'अकल इव' निष्कल इव 'न प्रणाय्यः' ॥ असम्मतः ? अपि तु असम्मत एव । 'तत्' तस्मात्कारणात् 'ननु' निश्चितं त्वं 'गुरुगिरा' शास्त्रविशुद्धवचनेन स्वस्य आत्मनो द्वितीयां 'द्वितीयां' पत्नीं तन्वन् सन् अस्याः कलाः सौभाग्यादिकाः प्राप्स्यसि । क इव ? 'विधुरिव' यथा विधुः 'वलक्षे' उज्वले सर्वपक्षे स्वद्वितीयां द्वितीयां तिथिं तन्वन् अस्याः कलाः प्राप्नोति । उत्तस्थे इत्यत्र "उदोऽनूर्ध्वे हे" (सि० ३-३-६२) आत्मनेपदम् । प्रणीयते इति प्रणाय्यः "प्रणाय्यो निष्कामासम्मते" (सि० ५-१-२३) इति घ्यणप्रत्यये निपातः ।अत्र रूपकतुल्ययोगितोपमानानुप्रासाः ॥ ११ ॥

अथ गौरी प्राह—

नार्या आर्यापर परमिति त्वं द्विषन् कोऽसि निष्णो
जिष्णोर्मान्या प्रतनभगवच्छान्तिमुख्यार्हतो या ।
संपश्यस्व क्षणमपि महाव्रत्यपीशो न मुञ्चेद्
गौरीं गौरी गिरमिति जगौ प्रेमकोपादगौरी ॥ १२ ॥

गौरी इति गिरं जगौ । इतीति किम् ? 'हे आर्यापर!' आर्येभ्यो मुख्येभ्योऽपर वक्र त्वं 'नार्याः' स्त्रियः 'द्विषन्' द्वेषं कुर्वन् कः 'निष्णः' दक्षोऽसि ? या नारी 'जिष्णोः' नारायणस्य मान्या, अथवा जिष्णोः जयनशीलस्य 'प्रतनभगवच्छान्तिमुख्यार्हतो मान्या' प्रतनः चिरन्तनो भगवान् श्रीशान्तिर्मुख्यो यस्यासौ अर्हन् जिनः तस्य, श्रीशान्तिकुन्थुअरजिनानां चतुःषष्टिसहस्राणि अन्तःपुर्योऽभूवन् । 'संपश्यस्व' विलोकय महाव्रत्यपि ईशः क्षणमपि गौरीं न मुञ्चेत्, यो महाव्रतभृत् स्यात् स स्त्रियां सङ्गं कथं कुर्यात् ? ईशस्तु महाव्रतीति प्रसिद्धोऽपि अर्धाङ्गविभक्तत्वात् पार्वतीं क्षणमपि न मुञ्चति, अतो या नारी जिष्णूनां लोकोत्तरश्रीशान्तिनाथमुख्य-

जिनानां मान्या, लौकिकस्य महाव्रतिनो हरस्यापि मान्या पाणिग्रहणाकरणेन पराङ्मुखतया तस्या नार्या द्विषन् नवीनः कोऽपि त्वं दक्ष इति मेयोपहासः। किंरूपा गौरी? 'प्रेमकोपात्' स्नेहकोपात् अगौरी, एतावता कोपाधिकारादारक्ता, सकोपोपचया जनस्याप्रणेः स्यादिति। नार्या इत्यत्र "द्विषो वाऽतृशः" (सि० २-२-८४) षष्ठी। संपश्यस्वेति "समो गमृच्छिप्रच्छि०" (सि० ३-३-८४) इत्यात्मनेपदम्। अत्र वक्रोक्तिविषमविरोधश्लेषानुप्रासाः॥ १२॥

अथ सत्यभामाऽऽह—

सत्या सत्यापितकृतकवाक्कोपमाचष्ट सख्यः!
साध्यः साम्नां न जलपृषतां तप्तसर्पिर्वदेषः।
दृष्ट्वा तच्च स्वयमतिबलादाशु वश्यं विधाय
श्रान्तं संविद्वदिममबलेत्यात्मदोषोऽस्य नोप्यः॥१३॥

'सत्या' सत्यभामा सत्यापितः (सत्यः) कृतः कृतकः कृत्रिमो वाक्कोपो वचनकोपो यत्र एवं यथा भवति 'आचष्ट' आचख्यौ, हे सख्यः! 'एषः' देवरः 'साम्नां' सामवाक्यानां न साध्यः, सामवाक्यैः साधयितुं वशीकर्तुं न शक्य इत्यर्थः। किंवत्? 'तप्तसर्पिर्वत्' यथा तप्तसर्पिः 'जलपृषतां' पयोबिन्दूनां न साध्यम्। 'तत्' तस्मात्कारणात् 'एनं (इमं)' नेमिनं दृष्ट्वा 'च' अन्यत् 'आशु' शीघ्रं मतिबलात् वश्यं विधाय मम अबला इति आत्मनो दोष आत्मदोषः 'न लोप्यः' न स्फेटनीयः? अपि तु स्फेटनीय एव। किंवत्? 'संविद्वत्' यथा संवित् ज्ञानं 'श्रान्तं' खिन्नं दृष्ट्वा वश्यं विधाय आत्मनो दोषं नोद्घाटयति, सर्वत्रापि स्त्री अबला कथ्यते, अतो नेमिनं वश्यं कृत्वाऽयं दोषो भेत्स्यते, यतस्त्वपि महाबलसमर्थस्यात्मनोऽपि आत्मनामबला इति न कथयिष्यति, एतावता इदानीं एव वशः कार्य इति। गमेति "ते ग्रुवा" (सि० ३-२-१०८) इत्युपसर्गमामन्त्रणोक्तेः। वासः क्रियते स्म सा-

त्यापितः "णिज् बहुलं०" (सि० ३–४–४२) णिच्, "सत्यार्थवेदस्याः" (सि० ३–४–४४) आकारः । साक्षामित्यत्र "कृत्यस्य वा" (सि० २–२–८८) इति षष्ठी । अत्र दृष्टान्तार्थान्तरन्यासानुप्रासाः ॥ १३ ॥

सत्यभामयोदितं वाक्यमुक्तं ततः पद्मावती प्रशस्तं वाक्यं प्राह—

पद्मावत्या तदनु जगदे नो मुदे देवरोऽसौ
नो कुत्राभूद्वद कुमुदिनीवत् कलाभृद्वयस्ये ! ।
अन्तर्धातुं प्रतिघमलिनाम्भोभृता वत्स युक्तं
पीयूषाब्धिं किमुत शिरसेशानवद्धर्तुमेतम् ॥ १४ ॥

'तदनु' ततोऽनन्तरं पद्मावत्या 'जगदे' प्रोचे–हे 'वयस्ये!' सखि सत्यभामे! 'वद' ब्रूहि असौ देवरो 'नः'अस्माकं कुत्र 'मुदे' हर्षाय नोऽभूत्? अपि तु सर्वत्राभूत्। किंवत्? 'कुमुदिनीवत्' यथा कुमुदिनीनां 'कलाभृत्' चन्द्रः कुत्र हर्षाय न भवेत्? अपि तु सर्वत्रापि स्यात्। एषोऽपि कलाश्चातुर्यादिका बिभर्तीति कलाभृत्। 'तत्' तस्मात्कारणाद् एतं 'प्रतिघमलिनाम्भोभृता' 'अन्तर्धातुम्' आच्छादयितुं न युक्तम्, प्रतिघः कोप एव मलिनोऽम्भोभृत् मेघस्तेन, किमुत ईशानवत् शिरसा एतं धर्तुं युक्तम्। किंविशिष्टमेतम्? 'पीयूषस्य अब्धिं' अमृतस्य समुद्रं, सौभाग्यादिगुणैरत्यर्थमानन्दहेतुत्वादमृतसमुद्रवदाप्यायकत्वात् पीयूषाब्धिरेव यथा गौरेवायमित्यादि, चन्द्रोऽपि पीयूषस्य अब्धिः अमृतभृतत्वात्, कोऽर्थः? यथा चन्द्रो मलिनघनेनाऽऽच्छाद्यते तदयुक्तम्, यत् (च) ईश्वरेण शिरसि धार्यते तद्युक्तम्, तथा एषोऽपि भगवान् सकोपवाक्यैस्तिरस्क्रियते तदयुक्तं परं भक्त्या सत्क्रियते तद्युक्तं, महान्तो हि भक्त्या ग्राह्या न तु शक्त्या। अत्रोपमानरूपकातिशयोक्त्यलङ्काराः ॥ १४ ॥

अथ गान्धारी प्राह—

गान्धारी चावगिति न परं ब्रह्मतो ब्रह्म जन्मा-
द्धत्वैतासे ध्रुवमुपयतावप्यवाप्तासि तच्च।
अस्तुङ्कारात् सुखय ननु नः पादयोः पत्यते ते
दासः सस्ते पटुचटुगिरा राज्यमप्याप्यमीश!॥ १५॥

'च' अन्यद् गान्धारी इति अवक्–हे देवर! त्वं जन्मात् 'ब्रह्म' ब्रह्मचर्यं धृत्वा 'ब्रह्मतः' मोक्षात् परं 'न एतासे' न गन्तासि, 'उपयतावपि' पाणिग्रहणेऽपि 'ध्रुवं' निश्चितं 'तत्' ब्रह्म अवाप्तासि (प्राप्तासि), कोऽर्थः? यदि यावज्जीवमपि ब्रह्मचर्यं धरसि तदापि मोक्षादूर्ध्वं न यास्यसि, यदि च परिणेष्यसि तदापि मोक्षं यास्यस्येव, अर्हतां मोक्षगतेर्निश्चितत्वात्। 'ननु' वितर्के, अस्तुङ्कारात् 'नः' अस्मान् 'सुखय' सुखभाजः कुरु, अस्तु भवतु अधिकारात् पाणिग्रहणमस्तु इति वचनकरणात्। 'ते' तव पादयोः पत्यते। वयं 'ते' तव दास्यः स्मः। हे ईश! 'पटुचटुगिरा' स्पष्टचाटुवाण्या राज्यमपि 'आप्यं' प्राप्यम्। अस्तु इति त्यादिप्रतिरूपकमव्ययम्, ततः अस्तु करणं अस्तुङ्कारः "भावाकर्त्रोः" (सि० ५–३–१८) घञ्प्रत्ययः, "सत्यागदास्तोः कारे" (सि० ३–२–११२) मोऽन्तः। सुखय इति "सुख दुःखण् तत्क्रियायाम्" इति धातुः। अत्र काव्यलिङ्गोदात्तानुप्रासाः॥ १५॥

अन्योऽन्यस्मा सरसरसना नेतुरुत्केतुरागा
भरखण्डीगुडिमकटुगुटिकाकल्पमित्युक्तवत्यः।
प्रेमस्थेमक्षितितलमिलन्मौलिमाणिक्यमाला-
बालांशुश्रीशरणचरणाम्भोजयोः पेतुरेताः॥ १६॥

'एताः' अन्तःपुर्यः 'नेतुः' स्वामिनः 'प्रेमस्थेमक्षितितलमिलन्मौलिमाणिक्यमालाबालांशुश्रीशरणचरणाम्भोजयोः पेतुः' प्रेम स्नेहः तस्य स्थेम्ना स्थैर्येण क्षितितले पृथ्वीतले मिलन् मौलिः मस्तकं तत्र या माणिक्यमाला तस्या या बालांशुश्रीः बालकिरणलक्ष्मीः तस्याः शरणे स्थाने ये चरणाम्भोजे चरणकमले तयोः पेतुः। किं

कुर्वत्यः ? 'अन्योऽन्यस्यां' परस्परं 'इति' अमुना प्रकारेण 'मत्स्यण्डीयुक्त्रिकटुगुटिकाकल्पमुपकल्प्य:' मत्स्यण्डी खण्डं तेन (तया) युक् सम्मिश्रा या त्रिकटुगुटिका तत्कल्पं तत्समानं भाषितवत्यः, कोऽर्थः ? यथा खण्डमिश्रास्त्रिकटुगुटिकाः किञ्चित्तिक्ताः किञ्चिन् मधुराश्च भवन्त्येवं काचिदुक्तं काचिन्मधुरं च बभाषे । किंरूपाः ? 'सरसरसनाः' सरसजिह्वाः, पुनः किंविशिष्टाः ? उत्केतु: उत्पताक एतावताऽत्युत्कृष्टः रागो यासां ताः, एतावता सर्वा अपि पट्टदेव्यः स्वां स्वां युक्तिमुक्त्वा युगपत्प्रभोः पादयोः पेतुरित्यर्थः । अन्योऽन्यस्यामित्यत्र "परस्परान्योऽन्येतरेतरस्यां स्यादेर्वा पुंसि" (सि० ३-२-१) इत्यनेन अन्योऽन्यस्य शब्दस्याग्रे विभक्तेराम्, ईषद्-परिसमाप्ता त्रिकटुगुटिका त्रिकटुगुटिकाकल्पम्, "अतमबादेरी-षदसमाप्ते कल्पप् देश्यप् देशीयर्" (सि० ७-३-११) इति कल्पप्प्रत्ययः । अत्रातिशयोक्त्युपमोदात्तानुप्रासाः ॥ १६ ॥

सर्वानन्यानपि ननु सुखाकुर्वतः प्रीतितन्तु-
स्यूतस्वान्ताः प्रणयविनयाधानदैन्यं प्रपन्नाः ।
दुःखाकर्तुं तव समुचिता न प्रजावत्य एता
राजीविन्यो दिनकृत इवावोचदित्यच्युतोऽपि ॥ १७ ॥

'अच्युतोऽपि' नारायणोऽपि इति अवोचत्, इतीति किम् ? हे बन्धो ! तव एताः 'प्रजावत्यः' भ्रातृजायाः 'दुःखाकर्तुं' दुःख-यितुं न समुचिताः । कस्येव ? 'दिनकृत (इव)' सूर्यस्येव, यथा दिनकृतः 'राजीविन्यः' कमलिन्यो दुःखाकर्तुं न समुचिताः । किंरूपा एताः ? 'प्रीतितन्तुस्यूतस्वान्ताः' प्रीतिरेव तन्तुस्तेन स्यूतं स्वान्तं मनो यासां ताः, एतावताऽत्यन्तस्नेहलाः, पुनः किंरूपाः ? 'प्रणयविनयाधानदैन्यं प्रपन्नाः' प्रणयः प्रेम विनयश्च तयोराधानेन न्यसनेन दैन्यं दीनत्वं प्रपन्नाः । किं कुर्वतस्तव ? सर्वानन्यानपि 'सुखाकुर्वतः' सुखयतः, एतावता त्वमन्यान् सर्वानपि सुखयसि तव एता भ्रातृजाया दुःखयितुं कथं युक्ताः ? । सुखाकुर्वत इत्यत्र

"प्रियसुखादानुकूल्ये" (सि० ७–२–१४०) डाप्रत्ययः । दुःखा
कर्तुमित्यत्र "दुःखात्प्रातिकूल्ये" (सि० ७–२–१४१) डाप्रत्ययः
अत्रोपमानकाव्यलिङ्गानुप्रासाः ॥ १७ ॥

बाहौ धृत्वा प्रियमधुमुखा अप्यमापन्त बन्धो !
सन्तः प्रायः परहितकृते नाद्रियन्ते स्वमर्थम् ।
प्रष्ठस्तेषामपि बत ! कुतोऽतद्विलोपेऽपि दत्से-
ऽनन्वग्भूय स्वजनमनसामेवमाभीलकीलाः ॥ १८ ॥

'प्रियमधुमुखा अपि' बलदेवमुख्या अपि अर्थात्तं भगवन्तं बाहौ धृत्वाऽभापन्त, लोके हि संबन्धी सदाक्षिण्यः स्मितपूर्वकाग्रहेण बाहौ धृत्वा असम्मतमपि वस्तु अङ्गीकार्यत इति । हे बन्धो ! सन्तः प्रायः 'परहितकृते' अन्यहितार्थं 'स्वमर्थं' स्वकार्यं नाद्रियन्ते आत्मार्थं मुक्त्वा परहितं कुर्वन्ति, बत इति खेदे, त्वं 'तेषां' सतां 'प्रष्ठोऽपि' मुख्योऽपि 'अतद्विलोपेऽपि' तस्य स्वार्थस्य विलोपो विनाशः तद्विलोपः, न तद्विलोपोऽतद्विलोपस्तस्मिन् स्वार्थस्याविनाशेऽपि 'अनन्वग्भूय' प्रतिकूलो भूत्वा स्वजनमनसां 'एवं' अमुना प्रकारेण 'आभीलकीलाः' कष्टज्वालाः कुतो हेतोर्दत्से ? कोऽर्थः ?, परोपकारपराणां साधूनां मुख्यस्त्वम्, तवार्थो मोक्षलक्षणः पाणिग्रहणेऽपि न विनश्यति, एवं सति त्वं स्वजनमनसां पाणिग्रहणनिषेधरूपाः कष्टज्वालाः कुतो ददासि ? । अन्वग्भवनं पूर्वं अन्वग्भूय, न अन्वग्भूय अनन्वग्भूय "आनुलोम्येऽन्वचा" (सि०५-४-८८) यत्वाप्रत्ययः, "अनञः क्त्वो यप्" (सि० ३–२–१५४) । अत्राप्रस्तुतप्रशंसाविरोधरूपकानि ॥ १८ ॥

तीर्थेष्वन्येष्वमितविमतिर्दृश्यते दर्शनानां
सर्वेषां तु स्फुरति पितरौ तीर्थमत्यन्तमान्यम् ।
तौ ताम्यन्तौ त्वदनुपयमान्मोदयस्वाय चेत्त्वत्
को दोषः स्यादितरवनिता अप्ययोपन्त चेति ॥ १९ ॥

'इतरधनिता अपि' अन्यनार्योऽपि 'च' अन्यत् इति अवोचन्त । इतीति किम् ? 'दर्शनानां' शैवमाहाद्यादिशासनानाम् अन्येषु तीर्थेषु 'अमितविमतिः' यद्विवादो दृश्यते, सर्वेषु शासनेषु तीर्थविषयेऽपरिमितो विवादो दृश्यते, यथा माहेश्वराणां गङ्गागयादिकं जैनानां श्रीशत्रुञ्जयरैवतादिकमित्यादि, 'तु' पुनः सर्वेषां दर्शनानां 'पितरौ' मातापितरौ अत्यन्तमान्यं तीर्थं स्फुरति, सर्वेष्वपि दर्शनेषु मातापितरौ निर्विवादं तीर्थतया मन्येते, यतः—"असार्थप्रार्थनं तीर्थमदेहद्रोहणं तपः । अनम्भःसंभवं स्नानं मातृश्चरणपयः-नम् ॥ १ ॥" अथ येतौ पितरौ 'मोदयसि' हर्षयसि, किं कुर्वन्तौ पितरौ ? 'त्वदनुपयमात्' तवापाणिग्रहणात् 'ताम्यन्तौ' खिद्यमानौ, तत् को दोषः स्यात् ? कोऽर्थः ? यौ पितरौ सर्वदर्शनमान्यौ तौ यदि विवाहस्वीकारान्मोदयसि तदा कोऽपि दोषः स्यात् ? । अत्रार्थान्तरन्यासविषमालङ्कारौ ॥ १९ ॥

ध्येयधेयः प्रणव इव यद्विधेयोरसं यद्
दुःसाधं चाभिदधति विदः प्राणितव्यव्ययेऽपि ।
ओमित्युक्त्वाऽप्यखिलतनुमन्मोदनं तद्विधातुं
किं कौसीद्यं विदुर तव तद्दर्शिनोऽन्येऽप्यवोचन् ॥ २० ॥

'तद्दर्शिनः' तत्स्थानस्थायिनोऽन्येऽपि लोका इति अवोचन्, इतीति किम् ? यत् 'अखिलतनुमन्मोदनं' सकलप्राणिहर्षणं 'प्रणव इव' ॐकार इव 'ध्येयधेयः' ध्येयेषु धेयः श्रेष्ठं यथा ध्येयेषु ॐकारः शस्यते, एवं यदपि प्रतिदिनं ध्यायते यद् 'विधेयोरसं' विधेयेषु कर्तव्येषु उरसं प्रधानं यत् 'विदः' विद्वांसः 'प्राणितव्यव्ययेऽपि' जीवितव्यविनाशेऽपि 'दुःसाधं' साधयितुमशक्यं 'अभिदधति' ब्रुवते, यदि प्राणितव्यं व्यय्यते तथापि यत् कर्तुं न शक्यते, 'हे विदुर!' हे दक्ष! तव तद् अखिलतनुमन्मोदनं ओमित्युक्त्वापि विधातुं 'किं कौसीद्यं' किमालस्यम्, ओम् अङ्गीकृतं मया पाणिग्रहणम् इति वचनेनापि यदि सकलप्राणिनोऽपि हृष्यन्ति तदा तद्विषये किमालस्यं

क्रियते ? । विभेयेषु उरः प्रधानं विधेयोरसम् "उरसोऽग्रे" (सि० ७-३-११४) अत्प्रत्ययः । दुःखेन कृच्छ्रेण भाव्यते इति दुःसाधं "दुःस्वीषतः कृच्छ्राकृच्छ्रार्थान् खल्" (सि०-५-३-१३९) खल्प्रत्ययः । अत्र परिकरातिशयोक्त्युदात्तानि ॥ २० ॥

नेताऽप्यन्तर्मनसमसकृन्मीलितोन्मीलिताक्षः
किञ्चिद्ध्यात्वा लसितदशनाभीशुकिञ्जल्ककान्तम् ।
दुःखादास्यं दरविकसिताम्भोजयन्नाबभाषे
माधुर्याधःकृतमधुसुधं सम्मतं यो विधास्ये ॥ २१ ॥

नेताऽपि 'माधुर्याधःकृतमधुसुधं' यथा भवति आबभाषे, माधुर्येण अधःकृते मधुसुधे यत्र तत्, किं कृत्वा ? 'अन्तर्मनसं' मनोऽन्तः किञ्चिद्ध्यात्वा, किं कुर्वन् ? दुःखात् 'आस्यं' मुखं 'दरविकसिताम्भोजयन्' दरविकसितं ईषद्विकसितं अम्भोजं तदिव कुर्वन् । किंरूपः ? 'असकृन्मीलितोन्मीलिताक्षः' असकृत् पुनः पुनः मीलिते संकुचिते उन्मीलिते उद्घाटिते अक्षिणी येन सः । किंरूपं आस्यम् ? 'लसितदशनाभीशुकिञ्जल्ककान्त' लसिता उल्लसिता दशनानां दन्तानां अभीशवः किरणास्त एव किञ्जल्कः परागः तेन कान्तम् । किं बभाषे ? तदाह—अहं 'वः' युष्माकं 'सम्मतं' इष्टं विधास्ये । अयमर्थः—यदा स्वामी कृष्णान्तःपुरीकृष्णबलदेवयदुवर्गेण भृशं रुद्धो नाच्छुटत् तदा स्वामी चिरकालं नयनसंकोचविकाशाभ्यां ध्यानं कृत्वा राजीमत्या अगोचरं यदहं पश्चादपि व्रतमादास्य इत्यादिकं मनसि चिरं चिन्तयित्वा गम्भीरार्थं वचनं व्याजहार—यदहं युष्माकं सम्मतं विधास्ये परमार्थतः सम्मतं व्रतमेव । मनसोऽन्तरन्तर्मनसं "शरदादेः" (सि०७-३-९२) अत्प्रत्ययः समासान्तः । सम्मीलिते उन्मीलिते अक्षिणी येन सः "सक्थ्यक्ष्णः स्वाङ्गे" (सि० ७-३-१२६) अत्प्रत्ययः । दरविकसिताम्भोजमिव कुर्वन् "णिज् बहुलं नाम्नः कृगादिषु" (सि०३-४-४२) । अत्र जातिरूपकातिशयोक्त्यनुप्रासाः ॥ २१ ॥

एतद्वर्णश्रवणमुदितः श्रीपतिः प्रोत्पताका-
दण्डैर्दोलादिव सपुलकां तत्पटान्तैः प्रनृत्ताम् ।
वर्णार्णोभिः सरभिनिचितैः हृष्टपीनाङ्गरागां
मुक्तालेख्यैः स्फुरितहसितां द्वारिकामभ्यगच्छत् ॥२२॥

'श्रीपतिः' कृष्णो द्वारकाम् अभ्यगच्छत् । अत्र द्वारकाया विशेषणरूपैः कृत्वा बलादपि कान्ताधर्मारोप आक्षिप्यते, अन्योऽपि यदा स्वामी स्वकान्तामभिगच्छति तदा सा शृङ्गारमुदारमारचयति, अतो विशेषणद्वारेण तद्दर्शयति—किंरूपां द्वारकाम् ? 'प्रोत्पताकादण्डैः' सपुलकां प्रहृष्टा तनुः ऊर्ध्वाः पताकानां वेणूनां दण्डाः सरोमाञ्चाम्, उत्प्रेक्ष्यते—'दोलादिव' हर्षादिव, 'तत्पटान्तैः' ध्वजपटाञ्चलैः 'प्रनृत्तां' प्रनृत्यन्तीम्, पुनः किंरूपाम् ? 'सरभिनिचितैः' मार्गेऽन्यमैः 'वर्णार्णोभिः' कुङ्कुमाम्भोभिः 'हृष्टपीनाङ्गरागां' हृष्टो रचितः पीनोऽङ्गरागो यया सा ताम्, 'मुक्तालेख्यैः' मौक्तिकचित्रैः 'स्फुरितहसितां' स्फुरितहास्याम् । किंरूप श्रीपतिः ? 'एतद्वर्णश्रवणमुदितः' अहं युष्माकं गमनं विधास्ये एते वर्णा अक्षराणि तेषां श्रवणेन मुदितो हृष्टः । अत्रातिशयोक्तिसमासोक्त्यनुप्रासाः ॥२२॥

दुग्धं स्निग्धं समयतु सिता रोहिणी पार्श्वमिन्दुं
हैमी मुद्रा मणिमुरुपृणि कल्पवल्ली सुमेरुम् ।
दुग्धाम्भोधिं त्रिदशतटिनीत्यादिभिः सामवाक्यैः
श्रीनेम्यर्थं प्रगिरि च स मल्लीजिनं मां ययाचे ॥२३॥

हे जलधर ! 'सः' श्रीकृष्णः 'श्रीनेम्यर्थं' श्रीनेमिनाथकृते 'प्रगिरि च' तत्कालमेव 'मल्लीजिनं' मत्पितरं मां ययाचे, 'च' अवधारणे, याचिधातुर्द्विकर्मकः, अतो द्वारिकापुरीमागत्य तत्कालमेव श्रीनेमिपाणिग्रहणाय मत्पितुः पार्श्वेऽहं श्रीकृष्णेन प्रार्थिता । कदाचित्प्राणेन प्रभुतया प्रार्थिता भविष्यतीत्येतदपोहायाह—कैः ? इत्यादिभिः सामवाक्यैः, इतीति किम् ? 'सिता' शर्करा स्निग्धं दुग्धं

'समयतु' मिलतु, रोहिणी 'पार्वणेन्दुं' पार्वणचन्द्रं समयतु, 'हेमी' सुवर्णसंबन्धिनी मुद्रा मणिं समयतु, किंरूपं मणिम्? 'उरुघृणिं' गुरुकान्तिम्, कल्पवल्ली सुमेरुपर्वतं समयतु, 'त्रिदशतटिनी' गङ्गा 'दुग्धाम्भोधिं' समुद्रं समयतु। यथैते योगाः श्लाघ्याः सन्ति तथा श्रीनेमिराजिमत्योरपि योगो भवतादित्यर्थः। अत्राप्रस्तुतप्रशंसाम-नुमयतुल्ययोगितासामान्यविशेषसमासोक्त्यनुप्रासाः ॥ २३ ॥

तद्बुद्ध्वान्तर्मुदमविभृतां श्रीसमुद्रः शिवा च
प्रावृट्कालोदितमिव नवं त्वां सुराजा प्रजा च।
तत्तत्कार्येष्वथ गणकतोऽवेत्य लग्नं विलग्नं
प्राप्तोद्वाहोद्वहमहमहःसंपदामक्रमेताम् ॥ २४ ॥

श्रीसमुद्रः शिवा च तत् 'बुद्ध्वा' ज्ञात्वा 'अन्तः' चित्ते 'मुदं' हर्षम् 'अविभृतां' अधरताम्, कमिव? त्वामिव, यथा सुराजा प्रजा च 'प्रावृट्कालोदितं' वर्षाकालोत्पन्नं 'नवं' नवीनं त्वां बुद्ध्वा मुदं बिभृतः। 'अथ' अनन्तरं श्रीसमुद्रः शिवा च 'तत्तत्कार्येषु' विवाहसंबन्धिलोकप्रसिद्धकार्येषु 'अक्रमेतां' उत्सहेते स्म, किं कृत्वा? 'गणकतः' ज्योतिषिकात् लग्नं 'अवेत्य' ज्ञात्वा, किंरूपं लग्नम्? 'प्राप्तोद्वाहोद्वहमहमहःसंपदां विलग्नं' प्राप्त उद्वाहो विवाहो येन एवंविध उद्वहः पुत्रस्तस्य मह उत्सवस्तस्य या महःसंपदः तेजोलक्ष्म्यः तासां विलग्नं मध्यम्। एतावता एके उत्सवा लग्नात्पूर्वं भवन्ति अपरे उत्सवा लग्नसाधनादनु भवन्ति अतो लग्नं मध्यम्। अक्रमेतामित्यत्र "क्रमोऽनुपसर्गात्" (सि० ३–३–४७) "वृत्ति-
े (सि० ३–३–४८) सर्गे उत्साहस्तत्रार्थे आत्म-
...। अत्रोपमानोदात्तानुप्रासाः ॥ २४ ॥

लग्नेऽभ्यासीभवति दिवसे दारकर्मण्यकर्मा-
ण्यारभ्यन्त प्रति यदुगृहं त्यक्तकृत्यान्तराणि।
वासन्ताहे प्रतितरु यथा पल्लवानि प्रकामं
पुष्पोत्पाद्यान्यखिलगलितप्रत्नपत्रान्तराणि ॥ २५ ॥

'प्राप्ते' स्मरसम्बन्धिनि दिवसे 'अभ्यासीभवति' आसन्ने जायमाने सति सति यदुचितं 'दारकर्मण्यकर्माणि' विवाहकर्मसाधूनि कार्याणि आरभ्यन्ते । किंरूपाणि दारकर्मण्यकर्माणि ? 'हत्कृत्यान्तराणि' स्वरूपाणि कृत्यान्तराणि कार्यान्तराणि येभ्यः । अत्र दृष्टान्तमाह–यथा 'वासन्ताहे' वसन्तसम्बन्धिनि दिने 'प्रतितरु' वृक्षं वृक्षं प्रति 'प्रवालं' अन्वर्थं पल्लवानि आरभ्यन्ते, किंविशिष्टानि पल्लवानि ? 'पुष्पोत्पाद्यानि' पुष्पाणि उत्पाद्यानि उत्पादनीयानि येषां तानि, पल्लवानन्तरं हि पुष्पाणि जायन्ते इति, पुनः किंरूपाणि पल्लवानि ? 'अभिलषितप्रकटपत्रान्तराणि' अभिलषितानि वाञ्छितानि ललितानि प्रकटानि पुराणानि पत्रान्तराणि अन्यपत्राणि येषु तानि । अत्र दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरियं घटना–पल्लवस्थाने कर्माणि, विवाहस्थाने पुष्पम्, कृत्यान्तरस्थाने पत्रान्तराणि इति । लाग्ने इत्यत्र लग्नस्यायं लाग्नः "तस्येदम्" (सि० ६–३–१६०) अण् प्रत्ययः, "वृद्धिः स्वरेष्वा०" (सि० ७–४–१) वृद्धिः । अनभ्यासोऽभ्यासो भवति अभूततद्भावे च्विः, "ईश्चाववर्णस्या०" (सि० ४–३–१११) ई । दारकर्मणि साधूनि "तत्र साधौ" (सि० ७–१–१५) । वसन्तस्येदं वासन्तम् "तस्येदम्" (सि० ६–३–१६०) अण्, वृद्धिः वासन्तं च तत् अहश्च, "अह्नः" (सि० ७–३–११६) अट् प्रत्ययः, "नोऽपदस्य तद्धिते" (सि० ७–४–६१) अन्लोपः । प्रतिगत तरुं तरुं प्रति प्रतितरु "भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः" (सि०–२–२–३७) इति द्वितीयाकारके "विभक्तिसमीप०" (३–१–३९) इत्यव्ययीभावः । अत्रानुप्रासातिशयोक्तिदृष्टान्तानुप्रासाः ॥ २५ ॥

इत्यालोघध्वनितरसितः केकिकण्ठाभिराम-
　धामोल्लोचोपमतपनततिर्दर्पणोत्कम्पशम्पः ।
रत्नश्रेणीखचितनिचितस्वर्णसद्दत्यदामो–
　दीप्तेन्द्राराः सन्तुकृतपयोधारमुक्तावचूलः ॥ २६ ॥

'समयतु' मिलतु, रोहिणी 'पार्वणेन्दुं' पार्वणचन्द्रं समयतु, 'हैमी' सुवर्णसंबन्धिनी मुद्रा मणिं समयतु, किंरूपं मणिम्? 'उरुघृणिं' गुरुकान्तिम्, कल्पवल्ली सुमेरुपर्वतं समयतु, 'त्रिदशतटिनी' गङ्गा 'दुग्धाम्भोधिं' समुद्रं समयतु। यथैते योगाः श्लाघ्याः सन्ति तथा श्रीनेमिराजिमत्योरपि योगो भवतादित्यर्थः। अत्राप्रस्तुतप्रशंसासमुच्चयतुल्ययोगितासामान्यविशेषसमासोक्त्यनुप्रासाः॥ २३॥

तद्बुद्ध्वान्तर्मुदमविभृतां श्रीसमुद्रः शिवा च
प्राड्वृट्कालोदितमिव नवं त्वां सुराजा प्रजा च।
तत्तत्कार्येष्वथ गणकतोऽवेत्य लग्नं विलग्नं
प्राप्तोद्वाहोद्वहमहमहःसंपदामक्रमेताम्॥ २४॥

श्रीसमुद्रः शिवा च तत् 'बुद्ध्वा' ज्ञात्वा 'अन्तः' चित्ते 'मुदं' हर्षम् 'अबिभृतां' अधत्ताम्, कमिव? त्वामिव, यथा सुराजा प्रजा च 'प्रावृट्कालोदितं' वर्षाकालोत्पन्नं 'नवं' नवीनं त्वां बुद्ध्वा मुदं बिभृतः। 'अथ' अनन्तरं श्रीसमुद्रः शिवा च 'तत्तत्कार्येषु' विवाहसंबन्धिलोकप्रसिद्धकार्येषु 'अक्रमेतां' उपक्रमेते स्म, किं कृत्वा? 'गणकतः' ज्योतिर्विदः लग्नं 'अवेत्य' ज्ञात्वा, किंरूपं लग्नम्? 'प्राप्तोद्वाहोद्वहमहमहःसंपदां विलग्नं' प्राप्त उद्वाहो विवाहो येन एवंविध उद्वहः पुत्रस्तस्य मह उत्सवस्तस्य या महःसंपदः तेजोलक्ष्म्यः तासां विलग्नं मध्यम्। यतोऽत्र एके उपक्रमा लग्नात्पूर्वं भवन्ति अपरे उपक्रमा लग्नसाधनादनु भवन्ति अतो लग्नं मध्यम्। अक्रमेतामित्यत्र "क्रमोऽनुपसर्गात्" (सि० ३-३-४७) "वृत्तिसर्गतायने" (सि० ३-३-४८) सर्गे उत्साहेऽत्रार्थे आत्मनेपदम्। अत्रोपमोदात्तानुप्रासाः॥ २४॥

लग्नेऽभ्यागामिन्यथ दिवसे दारकर्मण्यकर्मा-
ण्यारम्भन्त प्रति सद्गृहं स्वकृत्यान्तराणि।
वासन्ताहे प्रतिविटपि यथा पल्लवानि प्रकामं
पुष्पोत्साद्यान्यभिनवफलप्रपत्रान्तराणि॥ २५॥

'लाग्ने' लग्नसम्बन्धिनि दिवसे 'अभ्यासीभवति' आसन्ने जायमाने सति प्रति यदुगृहं 'दारकर्मण्यकर्माणि' विवाहकर्मसाधूनि कार्याणि आरभ्यन्त । किंरूपाणि दारकर्मण्यकर्माणि ? 'त्यक्तकृत्यान्तराणि' त्यक्तानि कृत्यान्तराणि कार्यान्तराणि येभ्यः । अत्र दृष्टान्तमाह–यथा 'वासन्ताहे' वसन्तसंबन्धिनि दिने 'प्रतितरु' वृक्षं वृक्षं प्रति 'प्रकामं' अत्यर्थं पल्लवानि आरभ्यन्ते, किंविशिष्टानि पल्लवानि ? 'पुष्पोत्पाद्यानि' पुष्पाणि उत्पाद्यानि उत्पादनीयानि येषां तानि, पल्लवानन्तरं हि पुष्पाणि जायन्त इति, पुनः किंरूपाणि पल्लवानि ? 'अखिलगलितभग्नपत्रान्तराणि' अखिलानि समस्तानि गलितानि भग्नानि पुराणानि पत्रान्तराणि अन्यपत्राणि येषु तानि । अत्र दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरित्थं घटना–पल्लवस्थाने कर्माणि, विवाहस्थाने पुष्पम् , कृत्यान्तरस्थाने पत्रान्तराणि इति । लाग्ने इत्यत्र लग्नस्यायं लाग्नः "तस्येदम्" (सि० ६–३–१६०) अण् प्रत्ययः, "वृद्धिः स्वरेष्वा०" (सि० ७–४–१) वृद्धिः । अनभ्यासोऽभ्यासो भवति अभूततद्भावे च्विः, "ईश्चाववर्णस्या०" (सि० ४–३–१११) ई । दारकर्मणि साधूनि "तत्र साधौ" (सि० ७–१–१५) । वसन्तस्येदं वासन्तम् "तस्येदम्" (सि० ६–३–१६०) अण् , वृद्धिः वासन्तं च तत् अहश्च, "अह्नः" (सि० ७–३–११६) अट् प्रत्ययः, "नोऽपदस्य तद्धिते" (सि० ७–४–६१) अन्लोपः । प्रतितरु तरुं तरुं प्रति प्रतितरु "भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः" (सि०–२–२–३७) इति द्वितीयाकारके "विभक्तिसमीप०" (३–१–३९) इत्यव्ययीभावः । अत्रानुप्रासातिशयोक्तिदृष्टान्तानुप्रासाः ॥ २५ ॥

हृद्यातोद्यध्वनितरसितः केकिकण्ठाभिराम-
　क्षौमोल्लोचोमतघनततिर्दर्पणोत्कम्पशम्पः ।
रत्नश्रेणीखचितनिचितस्वर्णमङ्गल्यदामो–
　दीप्तेन्द्रास्त्रः स्तनुकृतपयोधारमुक्ताचचूलः ॥ २६ ॥

पङ्काशङ्कास्पदमृगमदो वर्यवैडूर्यनद्ध-
क्षोणीखण्डोन्मुखरुचिरुहो मागधाधीतिकेकः ।
आसीत् पित्रा स्थपतिकृतिनाऽनेहसा सद्ग्रहेणे-
वाम्भोदर्तुः प्रगुणिततमो मण्डपश्चौपयामः ॥२७॥युग्मम्॥

'औपयामः' विवाहसंबन्धी मण्डप आसीत् । किंरूपो मण्डपः ? पित्रा प्रयोजकेन कर्त्रा 'स्थपतिकृतिना' स्थपतिषु सूत्रधारेषु कृती कुशलो यस्तेन गौणकर्त्रार्थे 'प्रगुणिततमः' अत्यर्थं सज्जीकारितः, क इव ? 'अम्भोदर्तुः' मेघर्तुरिव यथाऽम्भोदर्तुः 'अनेहसा' कालेन प्रयोजककर्तृभूतेन 'सद्ग्रहेण' अनुकूलग्रहेण प्रयोज्यकर्तृरूपेण प्रगुण्यते सज्जीकार्यते । अथ वर्षर्तुमामभीयुक्तानि मण्डपविशेषणान्युच्यन्ते—पुनः किंविशिष्टः ? 'हृद्यातोद्यध्वनितरसितः' हृद्यानां मनोज्ञानाम् आतोद्यानां वादित्राणां ध्वनितं शब्दितमेव रसितं गर्जितं यत्र सः, केकिनां मयूराणां कण्ठमन्द्रवद् अभिरामा एतावता श्यामाः क्षौमोल्लोचा दुकूलचन्द्रोदयोतास्त एवोन्नता घना मेघास्तेषां ततिः श्रेणिर्यत्र, दर्पणा आदर्शा एव उत्कम्पाः शम्पाः विद्युतो यस्मिन्, उत् प्राबल्येन कम्पो यासां ता उत्कम्पाः,रत्नश्रेणिभिः खचितं बद्धं निचितं दृढं सुवर्णसम्बन्धि मङ्गल्यदाम तोरणं तदेवोद्दीप्तं भासुरमिन्द्रास्त्रं इन्द्रधनुर्यत्र, सुष्ठु अत्यर्थमनुकृता अनुगताः पयोधारा जलधारा यैस्तानि मुक्तावचूलानि मौक्तिकझुम्बनकानि यत्र, मौक्तिकझुम्बनकानि जलधरा इत्यर्थः, पङ्कस्य कर्दमस्य आशङ्कायाः भ्रान्तेरास्पदं स्थानं मृगमदः कस्तूरी यत्र, सौगन्ध्यापादनाय न्यस्तानि कस्तूरीखण्डान्येव कर्दमभ्रान्तिकराणि । वर्यवैडूर्यनद्धं बद्धं क्षोणीखण्डं तम्योन्मुखा ऊर्ध्वमुखा रुचयः किरणान्येव रुहा अङ्कुरा यत्र, वर्षासु हि भूमावङ्कुरा उद्गमन्ति । मागधानामधीतिः मङ्गलच्छन्दश्छन्दोगीतकविस्तारिमगनं सैव केका मयूरध्वनिर्यत्र सः । प्रगुणं सज्जं क्रियते स्म "णिज् बहुलं०" (सि० ३-४-४२) णिच्प्रत्ययः, "त्यन्त्यस्वरादेः" (सि० ७-४-४३) अन्त्यस्वरलोपः । प्रगुण्यते स्म

णः प्रत्ययः "स्नात्वशित्तो०" (सि० ४-४-३२) इट्, "सेट्-क्तयोः" (सि० ४-३-८४) इति णिज्लोपः, प्रकृष्टः प्रगुणितः प्रगुणिततमः "प्रकृष्टे तमप्" (सि० ७-३-५)। औपयाम इति "यमूं उपरमे" यम् उपपूर्वः, उपयमनमुपयामः "संनिव्युपाद्यमः" (सि० ५-३-२५) इति अल्विकल्पात् "भावाकर्त्रोः" (सि० ५-३-१८) घञ् प्रत्ययः, वृद्धिः, उपयामस्यायं औपयामः "तस्येदम्" (सि० ६-३-१६०) अण् प्रत्ययः, वृद्धिः। अत्रानुप्रासदृष्टान्तरूपकसमुच्चयपरिकराः ॥ २६-२७ ॥

आमोदेनानुपरततरोऽहर्दिवं यादवीनां
विष्वग्व्यापी पुरुरथ पुरेऽभूदुलूलध्वनिर्यत् ।
मन्ये धन्येतरनरकुलेष्वप्यनुत्साहधाम्नां
शोकानां तत्प्रतिहतिजुषां तत्रनाशावकाशः ॥ २८ ॥

'अथ' अनन्तरं 'पुरे' नगरे यत् 'यादवीनां' यदुस्त्रीणां 'पुरुः' प्रभूतः 'उलूलध्वनिः' धवलध्वनिरभूत् । किंरूप उलूलध्वनिः? 'आमोदेन' हर्षेण 'अहर्दिवं' दिने दिने 'अनुपरततरः' अत्यन्तमनिवृत्तः, हर्षेण यदुस्त्रियः कदाचिदपि धवलान् ददाना न निवर्तमानाः सन्ति इत्यर्थः । पुनः किंभूतः? 'विष्वग्व्यापी' अतीव मधुरतारत्वात्समन्तात्प्रसरणशील इति । अहमेवं मन्ये 'तत्' तस्मात्कारणात् 'धन्येतरनरकुलेष्वपि' सशोककुलेष्वपि शोकानामवकाशो ननाश, किंरूपाणां शोकानाम्? 'अनुत्साहधाम्नां' दैन्यस्थानकानाम्, पुनः कथं भूतानाम्? 'तत्प्रतिहतिजुषां' तेन उलूलध्वनिना प्रतिहतिः निराकरणं तां जुषन्तीति तत्प्रतिहतिजुषाम्, एतावताऽधमकुलेष्वपि सदा हर्ष एवास्ति न शोक इत्यर्थः । अहर्दिवमिति अहश्च दिवा च अहर्दिवम् "ऋक्सामर्ग्यजुषधेन्वनडुहवाङ्मनस०" (सि० ७-३-९७) इत्यादिना समासान्तः अत्प्रत्ययः, अहर्दिवेति निपातः, पश्चात् "कालाध्वनोर्व्याप्तौ" (सि०२-२-४२) इति द्वितीया-अम् । अत्रातिशयोक्तिरनुमानमनुप्रासश्च । तत्रानु-

मानम्—एतन्नगरकुलानि सर्वाणि शोकरहितानि, उल्लुलध्वनिव्यासत्वात्, जायमानविवाहादिमङ्गलगृहवत् ॥ २८ ॥

भूभृत्प्रेक्ष्या अपि वरवधूतातयोः प्रीतिभाजोः
सौधेष्वन्धङ्करणतिमिरारातिरत्नाजिरेषु ।
सीत्यस्यात्यादरभरमिलत्पौरसङ्घौरवार्थं
पुञ्जा व्रीहिप्रथनसुमनाढ्यस्य चापीपचन्त ॥ २९ ॥

वरवधूतातयोः सौधेषु अत्यादरभरमिलत्पौरसङ्घौरवार्थं 'भूभृत्प्रेक्ष्या अपि' पर्वतवद्दर्शनीया अपि 'व्रीहिप्रथनसुमनाढ्यस्य' 'सीत्यस्य' धान्यस्य पुञ्जा अपीपचन्त प्रथना मुद्गाः सुमना गोधूमा आढ्या यत्र तत् व्रीहिप्रथनसुमनाढ्यं तस्य । अपीपचन्तेति जनाः पुञ्जान् पचन्ति, तान् पचतः पितरौ प्रयुञ्जाते । द्वितीयोक्तौ पितरौ जनैः पुञ्जान् पाचयतः, तावेवं विवक्षेते—नावां पुञ्जान् पाचयावः किन्तु पुञ्जा एव योग्यतया सुपरिकर्मिततया पाचने जनान् स्वयमेव प्रायुञ्जन् इति । तृतीयोक्तौ कर्मकर्तरि पुञ्जाः स्वयमेवापीपचन्तेत्यर्थः, अत्र "एकधातौ कर्मक्रिययैकाकर्मक्रिये" (सि० ३–४–८६) इति सूत्रेणात्मनेपदम् । "भूषार्थसन्किरादिभ्यश्च त्रिक्यौ" (सि० ३–४–९२) अनेन सूत्रेण एकधाताविति सूत्रबलात्प्राप्तस्य "स्वरदुहो वा" (सि० ३–४–६९) इत्यादिना सूत्रेणाऽऽगतस्य ञिट्प्रत्ययस्य निषेधः, ततो "णिश्रिद्रुस्रुकमः कर्तरि ङः" (सि० ३–४–५८) इति ङः, ततो द्विर्वचनादिना सिद्धं रूपम् । धान्यपुञ्ज आपद्दणी पचमाणो इति लोकप्रसिद्धोऽर्थः । किंरूपयोस्तातयोः ? प्रीतिभाजोः । किंविशिष्टेषु सौधेषु ? 'अन्धङ्करण०' अनन्धोऽन्धः क्रियते यैस्तानि अन्धङ्करणानि "कृगः खनट् करणे" (सि० ५–१–१२९) इति खनट् प्रत्ययः, एवंविधानि यानि तिमिराणि तेषामरातयः शत्रवो यानि रत्नानि तेषामजिराणि अङ्गणानि येषु । अत्र तातयोरिति द्विवचनेऽपि सौधेष्विति बहुत्व-

मेवैकस्य येषु आवासेषु अतिविस्तीर्णरत्नाङ्गणेषु अमराशयः पर्वतप्रायाः यन्ता इति ज्ञापनार्थम् । अत्रोदात्तजात्यनुप्रासाद्याः ॥ २९ ॥

खाद्यस्वाद्याभरणसिचयार्चया बन्धुवर्गो
नानादेशागतनरपतीनेकतः सच्चकार ।
वर्णोद्वर्णस्नपनवसनालेपनापीडपुण्ड्रा-
ऽलङ्कारैस्तं प्रभुमपि च मामन्यतोऽलञ्चकार ॥ ३० ॥

बन्धुवर्गः 'एकतः' एकस्मिन् पार्श्वे 'खाद्यस्वाद्याभरणसिचयार्चया नानादेशागतनरपतीन् सच्चकार' सत्करोति स्म, खाद्यानि मोदकादीनि, स्वाद्यानि लवङ्गैलापत्रपूगादीनि, आभरणानि मुक्तादीनि, सिचयाः चीनांशुकाद्याः, आदिग्रहणात् पुष्पादिपरिग्रहः तैः कृत्वाऽर्चया—पूजया । 'अन्यतः' अन्यस्मिन् पार्श्वे 'वर्णोद्वर्णस्नपनवसनालेपनापीडपुण्ड्रालङ्कारैस्तं प्रभुं मामपि चालञ्चकार' वानाऊ-वना इति लोके रूढौ वर्णोद्वर्णौ, स्नपनं स्नानविधापनम्, वसनानि वस्त्राणि, आलेपनं चन्दनचर्चनम्, आपीडो मुकुटः, पुण्ड्रं तिलकम्, अलङ्काराः केयूरहारमुद्रादिकाः । एकस्मिन् पार्श्वे एकतः, अन्यस्मिन् पार्श्वे अन्यतः "आद्यादिभ्यः" (सि० ७-२-८४) तस् प्रत्ययः । अत्र बन्धुवर्गस्य राजसमूहसत्कारवरवधूशृङ्गारवैयग्र्येण विवाहस्य गौरवं प्रतिपादितम् । अत्रातिशयोक्तिदीपकानुप्रासाः ॥ ३० ॥

रोदोरन्ध्रे सुरनरवराहूतिहेतोरिवोच्चै-
स्तूर्यौघध्वनिभिरभितः पूरिते भूरितेजाः ।
अध्यारोहन्मदकलमिमं विश्वभर्तौपवाह्यं
गत्यैवाधःकृतिमतितरां प्रापिपत् पौनरुक्त्यम् ॥ ३१ ॥

('भूरितेजाः' प्रभूतदीप्तिमान्) 'विश्वभर्ता' श्रीनेमिनाथ औपवाह्यं इभं अध्यारोहन् सन् 'अतितराम्' अत्यर्थं पौनरुक्त्यं 'प्रापिपत्' प्रापितवान्, राजा यस्योपरि चटति स पट्टगजेन्द्र औपवाह्यः कथ्यते यतः—"राजवाह्यस्तूपवाह्यः" (अभिधान० ४-२८८) इति वचनात् । किंविशिष्टम् ? मदकलं स्पष्टम्, पुनः कथंभूतम् ?

गलेवाधःकृतम् , कोऽर्थः ? अमेऽपि भगवता गजो गत्याऽधःकृतः गजपतेरप्यधिकलीलागतित्वात् , पुनरपि वं गजेन्द्रमारोहणेनाऽधः कुर्वन् अत्यर्थं पौनरुक्त्यं प्रापितवानित्यर्थः । क सति ? 'आतोद्यार-ध्वनिभिः' वादित्रममूहनादैः 'उच्चैः' अतिशयतो रोदोरन्ध्रे 'अभितः' समन्तात् पूरिते सति रोदस्शब्देनाकाशपृथिव्यौ कथ्येते तयो-रन्तराले विवरे । किमर्थम् ? उत्प्रेक्ष्यते—'सुरनरवराहूतिहेतोरिव' आकाशे सुरा भुवि नरवरास्तेषामाहूतिः आकारणं तस्य हेतोरिव, ते ध्वनयो रोदोरन्ध्रं स्वभावान्न पूरयन्तः सन्ति किन्तु सुरनरव-राणामाकारणार्थमिति, विवाहे हि सर्वेषां शिष्टानामाकारणं क्रि-यत इति । प्रापिपदिति "आप्लृंट् व्याप्तौ" आप् प्रपूर्वः, प्राप्नुवन्तं प्रायुङ्क्त णिग्, अद्यतनी-दिप्रत्ययः "णिश्रिद्रुस्रुकम कर्त्तरिङः" (सि० ३–४–५८) ङप्रत्ययः, "स्वरादेर्द्वितीयः" (सि० ४–१–४) इति पिद्विर्वचनम्, "णेरनिटि" (सि० ४–३–८३) णिग्लोपः । अत्रोत्प्रेक्षापर्यायोक्तयतिशयानुप्रासाः ॥ ३१ ॥

सर्वैः प्राप्तेऽप्यधिकमुचिते साधु संभावितो यत्
पूर्वो भागो भुवनविभुना स्कन्धमध्यास नेयम् ।
अद्याप्येनं ननु गजपतेः प्राभवं विप्रकारं
सारं सारं भजति कृशतां साऽपरा खिद्यमाना ॥ ३२ ॥

सा 'गजपतेः' गजेन्द्रस्य अपरा खिद्यमाना सती कृशतां भजति, अपराशब्देन गजस्य पश्चिमो भागः कथ्यते, स स्वभा-वेन तलिनो भवति, तत्र कविरुत्प्रेक्षामाह—नन्विति उत्प्रेक्ष्यते—'अद्यापि' अद्य यावत् एनं 'प्राभवं' प्रभोः श्रीनेमिनाथस्य सम्ब-न्धिनं 'विप्रकारं' पराभवं 'सारं सारं' आभीक्ष्ण्येन स्मृत्वा, एनं कम् ? यत् 'भुवनविभुना' विश्वस्वामिना श्रीनेमिनाथेन 'स्कन्धम-ध्यास' गजेन्द्रस्य स्कन्धमारुह्य पूर्वो भागः 'साधु' भव्यं यथा भ-वति 'सम्भावितः' सम्मानितः, 'इयं' अपरा न सम्माविता, क सति ? पाणिग्रहणोत्सवे 'सर्वैः' इति सामान्योक्त्या सम्बन्धिबन्धु-

मिश्रपरिजनप्रकृतिजनैः 'उचिते' योग्ये अधिकमपि प्राप्ते सति, अयमर्थः—पाणिग्रहणप्रस्तावे सर्वस्यापि मारा क्रियते, यस्य यत् आभरणपट्टदुकूलशृङ्गारादि उचितं स्यात्तद्दीयते तदा प्रभोः परिणयावसरे सर्वयोग्याद्धिकमपि शृङ्गारादिकं प्राप्तम्, गजेन्द्रस्यारोहणे पूर्वभागः कुम्भस्थलादिकः सम्मुखतया सम्भाव्यते स्म पश्चिमभागस्तु पृष्ठोऽपि न, अतोऽद्य यावद् गजेन्द्रस्य पूर्वभागः प्रभुणा पाणिग्रहणोत्सवे सम्भावितत्वात्पुष्ट इवोन्नतोऽभूत्, पश्चिमभागस्तु तदा न सम्भावित इति पराभवस्मरणादिव अद्य यावत् कृशो भवतीति। आभीक्ष्ण्येन स्मरणं पूर्वं स्मारं स्मारम्, प्राक्काले "ख्णम् चाभीक्ष्ण्ये" (सि० ५-४-४८) इति णम्। अत्रोत्प्रेक्षापह्नुत्यनुप्रासाः ॥ ३२ ॥

शीतज्योतिः ससकलकलः पुण्डरीकापदेशात्
　गावो वालव्यजननिभतश्चन्द्रिका चेलदम्भात्।
तारा मुक्तामणिगणमिषान्निर्निमेषं पिबद्भि-
　र्देवं सेवास्थित इति तदाऽतर्कि नैशः प्रदेशः ॥ ३३ ॥

'तदा' तस्मिन् प्रस्तावे जनैः 'नैशः प्रदेशः' रात्रिसम्बन्धी प्रदेशः 'इति' अमुना प्रकारेण 'सेवास्थितः अतर्कि' विचारितः सेवार्थे(र्थं) स्थितः सेवास्थितः, अधिकारात्प्रभोरित्यर्थः। किंविशिष्टैर्जनैः ? 'देवं' श्रीनेमिनाथं 'निर्निमेषं' निमेषरहितं यथा भवति 'पिबद्भिः' अत्यादरेण दर्शनं पानमुच्यतेऽतः पश्यद्भिरित्यर्थः। इतीति किम् ? 'पुण्डरीकापदेशात् शीतज्योतिः' चन्द्रः पुण्डरीकं छत्रं तस्यापदेशात् मिषात्, किंविशिष्टः शीतज्योतिः ? 'ससकलकलः' सकलाभिः कलाभिः सह वर्तेत इति ससकलकलः, 'वालव्यजननिभतो गावः' वालव्यजनानि चामराणि तेषां निभतः कपटात् गावः किरणानि, 'चेलदम्भात्' अत्युज्ज्वलविभ्राजमानवस्त्रदम्भात् 'चन्द्रिका' चन्द्रज्योत्स्ना, 'मुक्तामणिगणमिषात् तारा' छत्रे आभरणेषु व्यक्ता मौक्तिकपङ्क्तयः ताराः, एवं चन्द्रचन्द्रकिरणचन्द्रज्योत्स्नातारकाभिः कृत्वा

रात्रिसम्बन्धी प्रदेशः किं दिवाऽपि स्वामिनं सेवितुमागतः ? इति
निशाया अयं नैशः "निशाप्रदोषात्" (सि० ६–३–८३)इत्यण् ।
अत्रापह्नुत्यतिशयोक्त्यनुप्रासाः ॥ ३३ ॥

अग्रेऽभूवन् करिहरिरथारूढवृष्णिप्रवीरा
नानायानाधिगतगतयो वीरपत्न्यश्च पश्चात् ।
उत्कोशासिप्रहरणभृतः पत्तयः पार्श्वदेशे
प्रत्यावृत्तेः प्रकृतिविरतस्यास्य भीत्येव मार्गात् ॥ ३४ ॥

'करिहरिरथारूढवृष्णिप्रवीराः' अग्रेऽभूवन् करिणो गजाः, हरयः तुरङ्गाः, रथाः प्रसिद्धाः, नानारूढा वृष्णयो यादवास्तेषां प्रवीराः प्रकृष्टवीराः, 'च' अन्यच्च वीरपत्न्यः पश्चादभूवन्, किंरूपाः ? 'नानायानाधिगतगतयः' नानायानैः रथसुखासनादिभिः कृत्वाऽधिगता प्राप्ता गतिर्याभिस्ताः, 'पत्तयः' पदातिकाः पार्श्वदेशेऽभूवन्, कथम्भूताः ? 'उत्कोशासिप्रहरणभृतः' कोशः खड्गपिधानकं कोशादुत्क्रान्तानि पिधानवर्जितानि उत्कोशानि असिप्रहरणानि शस्त्रायुधानि बिभ्रतीति उत्कोशासिप्रहरणभृतः । उत्प्रेक्ष्यते–अस्य मार्गात् प्रत्यावृत्तेः पश्चाद्वलनं तस्याः 'भीत्या' भयेनेव, किंविशिष्टस्यास्य ? 'प्रकृतिविरतस्य' स्वभावेन विरक्तस्य, अयमर्थः–अयं भगवान् स्वभावाद्विरक्तो रथेऽद्वलित्वा यातीति सर्वतो जनैर्वेष्टितः । अत्रोत्प्रेक्षानुप्रासातिशयोक्तयः ॥ ३४ ॥

मामुद्वोढुं स्मृतिमुपगतः पत्युराघोरणोत्कै-
रानीयार्ध्वनिनिगमनादेव यानं मनस्विः ।
पौरैर्गौराननरुचिभरैर्ह्रुतनिरुपान्तरेण-
तन्व्यं नैशाप्यधिकरुचिरैः स्मितपादित्यनेव ॥ ३५ ॥

उत्प्रेक्ष्यते–'पौरैः' नागरैः इति परस्परं 'कथादिशतेव' आकाश्यत इव, इतीति किम् ? आत्मानिरधिकरुचिरैरपि 'दुर्दिनस्याप्यतेस' आकारान्तरं विना नैव 'पद्मं' गन्तव्यम्, अधिका रुचिः इच्छा येषां तेऽधिकरुचिकाः तैः, पुनः कथम्भूतैः ? 'गौराननरुचिभरैः'

गौर उज्ज्वल आननम्य मुखस्य रुचिभरः श्रीभरो येषां ते गौराननरुचिभराः तैः, यथाऽन्यत्रापि विवाहादौ यादममिलाषयुक्तैरपि आकारणं विना न गम्यते। पुनः किंविशिष्टैः ? आतोद्यौघध्वनिनिशमनादेव 'वाजं' वेगं भजद्भिः, आतोद्यानां वादित्राणामोघः समूहः तस्य ध्वनेः शब्दस्य निशमनम् आकर्णनं तस्मात्, (पुनः) किंविशिष्टैः ? 'पत्युः' स्वामिन आलोकनं दर्शनं तस्योत्का उत्कण्ठितास्तैरपि। किंविशिष्टस्य पत्युः ? मां 'उद्वोढुं' परिणेतुं 'स्मृति' मार्गं 'उपयतः' आगच्छतः, कोऽर्थः ? लोकाः पतिं द्रष्टुं प्रकाममुत्कण्ठिता अपि वादित्राणि श्रुत्वैव वेगेन चलिताः, न त्वन्यथा। यद्वादित्रश्रवणं तदेव हूतिकर्म आकारणं जातमित्यर्थः। अत्रोत्प्रेक्षादेत्यनुमानाः॥ ३५॥

यावन्नान्दीरवमशृणवं स्नातभुक्तानुलिप्ता
　　हृप्ताकल्पा स्तनितमिव ते केकिनी प्रोचकर्णम्।
तावद्वातर्विधुमिव विभुं तं चकोरी दिदृक्षु-
　　श्चक्षुःक्षेपं सुमशरशराभ्याहतेवाकुलाऽऽसम्॥ ३६॥

हे जलधर! अहं यावत् 'नान्दीरवं' द्वादशविधमङ्गलतूर्यनिर्घोषो नान्दीत्युच्यते तस्या रवं शब्दं प्रोचकर्णं यथा भवति प्रकर्षेण उच्चैः कर्णौ यत्र श्रवणे तत् 'अशृणवं' शृणोमि स्म, किंविशिष्टाऽहम् ? 'स्नातभुक्तानुलिप्ता' पूर्वं स्नाता पश्चाद्भुक्ता ततोऽनुलिप्ता कृतविलेपना, पुनः किंरूपा ? 'हृप्ताकल्पा' हृप्तो रचित आकल्पः पाणिग्रहणयोग्यवेषो यया सा। केव ? 'केकिनीव' यथा केकिनी प्रोचकर्णं यथा भवति 'ते' तव 'स्तनितं' गर्जितं शृणोति, हे भ्रातः ! तावदहं तं विभुं 'दिदृक्षुः' द्रष्टुमिच्छन्ती 'चक्षुःक्षेपं' चक्षुः क्षिप्त्वा आकुलाऽऽसम्। उत्प्रेक्ष्यते–'सुमशरशराभ्याहता इव' सुमशरः कामस्तस्य शरैः बाणैरभ्याहता पीडिता इव, केव ? चकोरीव, यथा चकोरी विधुं दिदृक्षतेऽतो नान्दीरवं श्रुत्वा तं द्रष्टुमाकुला जातेत्यर्थः।

चक्षुःक्षेपणं पूर्वं चक्षुःक्षेपम् "स्वाङ्गेनाध्रुवेण" (सि० ५–४–७९) इति णम्प्रत्ययः । अत्रोत्प्रेक्षोपमानुप्रासाः ॥ ३६ ॥

पेय्रूपेषु स्वविषयसुखं भेजिवत्स्वुत्सुकाया-
मायान्त्यस्मै सखि! सुखयितुं किं न चक्षूंषि युक्तम्? ।
इत्यालीनां सुबहु वचनं मन्यमाना विमानं
मत्तालम्बं तदनुचरिताऽशिश्रियं देवतेव ॥ ३७ ॥

अहं 'तदनुचरिता' तासां सखीनामनुचरिता अनुगामिनी सती 'मत्तालम्बं' गवाक्षम् अशिश्रियम्, किं कुर्वाणा? इति 'आलीनां' सखीनां वचनं 'सुबहु' सुष्ठु अतिशयेन बहु घनं मन्यमाना। इतीति किम्? हे सखि! 'चक्षूंषि' नेत्राणि 'सुखयितुं' सुखं प्रापयितुं किं न युक्तम्? अपि तु युक्तम्, अत्र पेयूषेषु चक्षूंषि इत्यत्र बहुवचनं सखीबहुत्वापेक्षम्, किंविशिष्टानि चक्षूंषि? 'अस्मै' स्वविषयसुखाय दर्शनलक्षणाय उत्सुकायां 'आयान्ति' प्राप्नुवन्ति, अनुत्सुक उत्सुको भवति "च्व्यर्थे भृशादेः स्तोः" (सि० ३–४–२९) क्यङ्प्रत्ययः, "दीर्घश्च्वीयङ्यक्क्येषु०" (सि० ४–३–१०८) दीर्घः आ, उत्सुकायनं उत्सुकाया "शंसिप्रत्ययात्" (सि० ५–३–१०५) अङ्प्रत्ययः, "आत्" (सि० २–४–१८) आप्प्रत्ययः, अत उत्सुकायाम् औत्सुक्यमित्यर्थः। केषु सत्सु? 'पेयूषेषु' कर्णेषु 'स्वविषयसुखं' स्वम् आत्मीयं विषयसुखं श्रवणसुखं 'भेजिवत्सु' प्राप्तेषु सत्सु । अन्यत्रापि पङ्क्तावुपविष्टायामेकेषु मिष्टान्नं स्वादयत्सु अन्ये बुभुक्षिता मिष्टान्नभोजनाय व्याकुला भवन्ति, एवं चक्षुषी कर्णौ च पङ्क्तावुपविष्टौ स्तः, तेषु वादित्रादिमधुरध्वनिश्रवणरूपस्वविषयसुखभोगान् कर्णेषु तुष्टेषु चक्षूंषि भगवद्दर्शनरूपस्वविषयसुखं भोक्तुमत्याकुलानि जातानीत्यर्थः । केव? 'देवतेव' यथा देवता विमानं श्रयति । अत्र हेत्वनुप्रासोपमाः ॥ ३७ ॥

श्रेयःसारागमसुपयमायङ्गमभ्यासनस्थं
नासान्यस्तस्तिमितनयनं पुण्यनेपथ्ययोगम् ।

शुद्धध्यानोपगतमिव सचन्दनस्याङ्गरागै-
स्त्वद्द्राक्षं जगदिनमहं भोगिनं योगिनं वा ॥ ३८ ॥

हे मेघ! अहं तत्र 'जगदिनं' जगत्स्वामिनं 'अद्राक्षं' पश्यामि स्म, किंविशिष्टम्? योगिनं 'वा' अथवा भोगिनम्, अलक्ष्यत्वा-दुभयावस्थे अपि भजन्तमित्यर्थः। किंविशिष्टं जगदिनम्? 'श्रेयः-सारागमं' पूर्वं भोगिपक्षः—श्रेयोभिः कल्याणैः सारः प्रधानः आगम आगमनं यस्य, पुनः कथंभूतम्? 'उपयमाद्यङ्गं' उपयमं पाणि-ग्रहणम् इत्यादीनि अङ्गानि भोगप्रकारा यस्य स तम्, अग्र्ये प्रधाने गजेन्द्ररूपे आसने तिष्ठतीति अग्र्यासनस्थम्, नासा नासिका तस्यां न्यस्ते स्तिमिते निश्चले नयने यस्य स तम्, पुण्यः पवित्रो नेप-थ्यस्य वेषस्य योगो यस्य। योगिपक्षे—श्रेयो मोक्षस्तदेव सारं यस्य ईदृग् आगमः सिद्धान्तो यस्य, पुनः किंरूपम्? 'उपयमाद्यङ्गं' उप समीपे यमादीनि अष्टौ अङ्गानि यस्य, यम १ नियम २ आसन ३ प्राणायाम ४ प्रत्याहार ५ ध्यान ६ धारणा ७ समाधि ८ रूपाणि अष्टौ योगाङ्गानि, अग्र्ये आसने पद्मासनादौ तिष्ठतीति। 'नासा-न्यस्तस्तिमितनयनं' स्पष्टम्। पुण्यं धर्म एव नेपथ्यस्य वेषस्य योगो यस्य। अथोत्प्रेक्षया द्वयोरपि साम्यमाह—सचन्दनस्य 'अङ्गरागैः' विलेपनैः शुद्धध्यानोपगतमिव, उपगतः संयुक्तः, चन्दनमेव शुद्ध-ध्यानमित्यर्थः। अत्र श्लेषोत्प्रेक्षाऽनुप्रासाः ॥ ३८ ॥

मोहोदन्वान्मम निशमनं तस्य जैवातृकस्य
ध्यातन्वत्याः कथमपि तथा तत्र पैधिष्ट पुष्टः।
कोऽयं काऽहं क किमु विदधामीति वीचीविशाला-
लोलचेताः क्षणमवजगे नो यथा जाड्यमाप्ता ॥ ३९ ॥

मम 'तत्र' गवाक्षे तस्य 'निशमनं' विलोकनं 'ध्यातन्वत्याः' कु-र्वत्याः 'मोहोदन्वान्' मोहसमुद्रः पुष्टः (कथमपि) तथा 'ऐधिष्ट' अवर्धिष्ट, किंविशिष्टस्य तस्य? 'जैवातृकस्य' दीर्घायुषः, अन्यस्यापि

'जैवातृकस्य' चन्द्रस्य दर्शनेन समुद्रो वर्धते, यथाऽहं क्षणम्
'न अवजगे' न ज्ञानवती, किंरूपा ? 'जाड्यं' जडभावं 'आप्ता' प्र
पुनः कथंभूता ? 'तद्वीचिमालालोलचेताः' तस्य मोहसमुद्रस्य वी
मालाभिः कल्लोलमालाभिः लोलत् चञ्चल इवाचरत् चेतः चित्तं य
सा, इतीति किम् ? अयं कः अहं का ? अहं क किमु 'विदध
करोमि, अतो मम मोहसमुद्रकल्लोलचञ्चलीक्रियमाणचित्तायाः
विस्मृतमित्यर्थः । "गाङ् गतौ" अवपूर्वस्य परोक्षायाम् एक
'अवजगे'–रूपम् । अत्रानुप्रासश्लेषरूपकातिशयोक्तयः ॥ ३९

कायं देवस्त्रिभुवनपतिर्मर्त्यकीटः क चैषा
यद्यप्यापींनिलयवलजं नो तथापि प्रतीये ।
इत्यूहे मे स्फुरदपि तदा लोचनं मानवीयं
भाग्याभावेऽमुकुलयदहो ! कामराजीवराजीः ॥ ४० ॥

हे मेघ ! 'मे' मम तदा मानवीयमपि लोचनं स्फुरत् भाग्याभ
सति 'अहो' इति आश्चर्ये 'कामराजीवराजीः' कामा मनोरथा
एव राजीवानि कमलानि तेषां राजीः श्रेणीः 'अमुकुलयत्' सङ्को
यामास, मानवीयशब्देन दक्षिणं लोचनं कथ्यते, ततः स्त्री
दक्षिणलोचनस्फुरणमशुभहेतुः । अथ यद्भानोः श्रीसूर्यस्य संबन्धि
लोचनं तत् कमलश्रेणीः कथं सङ्कोचयतीति विरोधः । क सति
इति 'ऊहे' विचारे सति, इतीति किम् ? अयं त्रिभुवनपतिर्दे
कः ?, 'च' अन्यत् 'एषा' अहं 'मर्त्यकीटः क' मर्त्येषु मनुष्ये
अप्रसिद्धतया कीटकल्पेत्यर्थः । यद्यप्येष: 'निलयवलजं' निलयम
आवासस्य वलजं द्वारम् 'आपीन्' आगच्छत् तथापि 'नो प्रतीये
न प्रत्येमि प्राप्नोमि यदस्य पाणिग्रहणं मम भविष्यतीति विश्वास
न । प्रतीये इत्यत्र "इंण्क् गतौ" धातोर्वर्तमाना–एकवचने "क्विवारे
दयः" (सि० ३–४–७२) इति दयसन्धे रूपम् । गुणल
इत्याद्यौ ... "...प्रत्यं ... स्वपः ..." (सि०

३–४–४२) णिष्प्रत्ययः, ललनी–दिष्प्रत्यये रूपम् । मर्त्यकीट इति रूपकत्वाच्च लिङ्गव्यत्ययः । अत्र विषमविरोधानुप्रासाः ॥४०॥

शान्तं पापं ! क्षिपसि ससिते क्षीरपूरेऽक्षखण्डान्
मङ्गल्यानामयमवसर इहामङ्गलं ते खलूक्त्वा ।
मामुद्वेगं सपदि दधतीमित्यवोचन् वयस्या
धावधावत्करुणमगृणोदेष रावं पशूनाम् ॥ ४१ ॥

हे मेघ ! यावत् 'वयस्याः' सख्यो मामिति 'अवोचन्' अजल्पन् । किंरूपां माम् ? 'सपदि' तत्कालं 'उद्वेगम्' उचाटं दधतीम् । इतीति किम् ? हे सखि ! 'पापं' दुरितं शान्तम्, त्वं 'ससिते' सितया शर्करया सहिते 'क्षीरपूरे' दुग्धपूरे 'अक्षखण्डान्' अक्षस्य बिभीतकस्य खण्डान् शकलान् क्षिपसि, अयं मङ्गल्यानां 'अवसरः' प्रस्तावः, 'ते' तव 'इह' प्रस्तावे 'अमङ्गलं' दुर्निमित्तसूचकम् उक्त्वा 'खलु' पूर्यते, एतावताऽस्मिन्नवसरे सविषादं वचो न वाच्यमिति भावः । तावत् 'एषः' भगवान् 'पशूनां' तिरश्चां 'करुणं' दीनं 'रावं' शब्दमगृणोत् । ते खलूक्त्वा अत्र "निषेधेऽलंखल्वोः क्त्वा" (सि० ५–४–४४) क्त्वाप्रत्ययः । अत्र विषमानुप्रासौ । यावत्सख्यो मधुरवचनैरुद्वेगं स्फेटयन्ति तावद्भविष्यन्महोद्वेगकारणमेव भगवता पशूनां करुणरावोऽश्रावीति "कर्तुः क्रियाफलावाप्ति–र्नैवानर्थश्च तद्भवेत् ।" इति विषमविशेषः, पूर्वार्धेऽपि विषमः ॥ ४१ ॥

हर्तुं तेषामवजिगमिषुः क्रन्दने सादिनाऽथो
नाथो नत्वा मुकुलितकरेणेति विज्ञप्यते स्म ।
एषां कीर्तेरिव जलनिधिर्नाथ ! नादेयवाहैः
शल्यैः शोभातिशयमयिता गौरवस्ते विवाहे ॥ ४२ ॥

'अथो' अनन्तरं 'सादिना' हस्तिपकेन नत्वा 'नाथः' स्वामी इति विज्ञप्यते स्म, किंविशिष्टो नाथः ? 'तेषां' पशूनां 'क्रन्दने'

करणशब्दे 'हेतुं' निमित्तं 'अवजिगमिषुः' ज्ञातुमिच्छुः, किंरूपेण सादिना ? 'मुकुलितकरेण' योजितहस्तेन, हे नाथ ! 'एषां' पशूनां 'कीनैः' मांसैः 'ते' तव विवाहे गौरवः 'शोभातिशयं' शोभाधिक्यं 'अयिता' प्राप्स्यति । किंरूपैः कीनैः ? 'शूल्यैः' शूलाकृतैः, क इव ? 'जलनिधिरिव' यथा जलनिधिः 'नादेयवाहैः' नदीसम्बन्धिप्रवाहैः शोभातिशयं प्राप्नोति । अत्र शूलया संस्कृतानि शूल्यानि "शूलोखाद्यः" (सि० ६-२-१४१) इति यप्रत्यये "अवर्णेवर्णस्य" (सि० ७-४-६८) इति आलोपे शूल्य इति रूपम् । नदीनामिमे नादेयाः "नद्यादेरेयण्" (सि० ६-३-२) इति एयण्प्रत्यये "अवर्णेवर्णस्य" (सि० ७-४-६८) ईलोपे नादेय इति रूपम् । अत्रानुप्रासोपमाद्याः ॥ ४२ ॥

मीलन्नेत्रद्वयमयमदःकृत्य कर्तास्म्यथैत-
त्रिश्चित्यैवं समजमिभमानीनयत् सादिनैषाम् ।
श्रोतःसार्थं विविधगतिना चेतसा बन्धमोक्षा-
लङ्कर्मीणः सकलविषयग्राममात्मेव देवः ॥ ४३ ॥

हे जलधर ! 'अयं देवः' श्रीनेमिनाथः 'सादिना' आधोरणेन 'इभं' गजेन्द्रं 'एषां' पशूनां 'समजं' वर्गं वाटकमिति यावत् आनीनयत् । किं कृत्वा ? 'मीलन्नेत्रद्वयं' सङ्कुचन्नयनयुगलं यथा भवति एवं निश्चित्य, यदा विचारः स्वहृदि क्रियते तदाऽक्षिणी निमील्य एकाग्रीभूयते इति भावः । एवमिति किम् ? अहं अदःकृत्य अथ एतत्कर्तास्मि, राजीमती हि मुग्धनयनमाधैर्ष्यानस्य स्पृहतां वेत्ति न तु हृदयं भावम्, अतः पशून् मोचयित्वा दीक्षां लास्यामीति निश्चयं कृत्वेत्यर्थः । क इव ? 'आत्मेव' यथा आत्मा 'चेतसा' मनसा 'श्रोतःसार्थं' श्रोतसां इन्द्रियाणां सार्थं समूहं 'सकलविषयग्रामं' समस्तग्राह्यशब्दादिपदार्थराशिं आनयति प्रापयति । अयमर्थः—यथाऽऽत्मा मनसा हेतुभूतेनेन्द्रियाणि स्वविषयान्

शब्दादीन् प्रापयति तथा देवोऽपि सादिना हेतुना इमं पशुवाटक-मानयदिति । किंविशिष्टेन चेतसा ? 'विविधगतिना' विविधा विचित्रा शब्दादिग्रहणार्थं गतिर्यस्य, सादिनाऽपि किंरूपेण ? 'विविधगतिना' विविधा गतिः ज्ञानं गजशिक्षाख्यमिभित्सानुवर्तना-दिरूपा वा यस्य स तेन । किंविशिष्टो देवः ? 'बन्धमोक्षाऽऽढ्यम्भीणः' बन्धेभ्यो मोक्षे मोचनेऽलङ्कर्मीणः कर्मक्षमः, आत्माऽपि कर्मणां बन्धे मोक्षे चाऽऽढ्यम्भीणः समर्थः । अद्ःकृत्य इति "अमहाद्युपदे-शेऽन्तरदः" (सि० ३-१-५) इति गतिसंज्ञायां क्त्वो यप् । मम्जमिति "भज क्षपणे" संपूर्वः मम्जनं मम्जः "सगुणोऽजः पदौ" (सि० ५-३-३०) इति अल्प्रत्ययः । नी द्विकर्मको धातुः । अत्रोदात्तोपमादयः ॥ ४३ ॥

दीनोत्पश्यान् पुरवनन्मश्चारिणश्चारबन्धं
बद्धान् पन्धेर्गलचलनयोर्वेपिनो मृत्युभीत्या ।
प्रीतः पृथ्वीपतिरिव जवादेष जन्तून् समन्तु-
नुन्मोच्य स्वं द्विरदमनयद्वेश्मनः सम्मुखत्वम् ॥ ४४ ॥

हे मेघ ! 'एषः' भगवान् 'जवात्' वेगात् जन्तून् 'उन्मोच्य' छोटयित्वा स्वं 'द्विरदं' हस्तिनं वेश्मनः सम्मुखत्वमनयत् । किंरूपान् पशून् ? दीनं यथा भवति तथा ऊर्ध्वं पश्यन्ति विलोक-यन्तीति दीनोत्पश्यास्तान् ,'पुरवनन्मश्चारिणः'पुरचारिणः छागाऽऽ-दयः वनचारिणो हरिणतित्तिरादयः आकाशचारिणः पक्षिणः, पुनः कथंभूतान् ? गलचलनयोः 'चारबन्धं बद्धान्' चारे गुप्तिगृहे यथा बध्यते तथा बन्धैः रज्ज्वादिभिर्बद्धान् , मृत्युभीत्या 'वेपिनः' कम्पनशीलान् । क इव ? 'पृथ्वीपतिरिव' यथा पृथ्वीपतिः 'प्रीतः' तुष्टः सन् 'समन्तून्' सापराधान् मनुष्यादीनुन्मोचयति । उत् ऊर्ध्वं पश्यन्तीति "घ्राध्मापाट्धेदृशः शः" (सि० ५-१-५८). शप्रत्यये "औति०" (सि० ४-२-१०८) इति पश्यरूपम् । चारे

यष्यते इति पारवन्यम् "आयारान्" (सि० ५-४-६८) इति सूत्रेण णम्प्रत्ययः । अत्र जातिपरिकरोपमाद्याः ॥ ४४ ॥

यानत्याजं सपदि पितरावग्रतोऽस्यास्य भूत्वा
वर्षा बाष्पप्लवविगलनात् पौनरुक्त्यं नयन्तौ ।
इत्यूचाते चिरमतमहाजात ! कस्मादकस्मा-
दस्मादश्माऽऽस्फलिततटिनीपूरवत्त्वं निवृत्तः ? ॥ ४५ ॥

'अथ' अनन्तरं पितरौ 'सपदि' तत्कालं 'यानत्याजं' यानं त्यक्त्वाऽस्य अग्रतो भूत्वा इति 'ऊचाते' अवदताम् । किंकुर्वन्तौ ? बाष्पप्लवविगलनात् वर्षाः 'पौनरुक्त्यं' पुनरुक्तभावं 'नयन्तौ' प्रापयन्तौ, बाष्पाणि अश्रूणि तेषां प्लवः पूरः तस्य विगलनं क्षरणं तस्मात्, अन्येऽपि वर्षासु घना वर्षन्तः सन्ति तदा पितरावपि अश्रुप्रवाहैर्वर्षितुं लग्नौ इति वर्षाकालस्य पौनरुक्त्यम् । इतीति किम् ? 'हे जात !' हे पुत्र ! त्वं कस्मात् हेतोः 'अकस्मात्' सहसैव अस्मात् 'चिरमतमहात्' चिराभीष्टपाणिग्रहणमहोत्सवात् निवृत्तः ?, किंवत् ? 'अश्माऽऽस्फलिततटिनीपूरवत्' अश्मसु पाषाणेषु आस्फलितः प्रतिहतः तटिनीपूरो नदीपूरस्तद्वत् । अत्र यानं त्यक्त्वा यानत्याजं "द्वितीयया" (सि० ५-४-७८) इति सूत्रेण णम् । अत्रातिशयो-क्त्यनुप्रासोपमाः ॥ ४५ ॥

तौ खिन्दानौ यदुपरिवृढो वारयित्वेत्यजल्पद्
बन्धो ! सिन्धो ! विनयपयसामाश्रितान् प्राक् प्रसत्तिम् ।
प्रापय्याथो दवयसि कुतः शुक्तिवत्तादृशानान्
नासंभाव्यं किमपि यदि वा ब्रह्मपर्यायसक्ते ॥ ४६ ॥

'यदुपरिवृढः' श्रीकृष्णः 'तौ' प्रभोः पितरौ 'खिन्दानौ' खेदं धरन्तौ वारयित्वा इति अजल्पत्—हे बन्धो ! हे विनयपयसां 'सिन्धो' ! समुद्र ! त्वं आश्रितान् 'प्राक्' पूर्वं 'प्रसत्तिं' प्रसादं 'प्रापय्य' लम्भयित्वा 'अथो' अनन्तरं कुतः कारणात् 'दवयसि'

परितापयन्ति ? "टुदुङ् परितापे" इति दु, दवनं दवः, "युवर्ण-वृदृवशरणगमृद्ग्रहः" (सि० ५–३–२८) अल्प्रत्ययः, "नामिनो गुणोऽक्ङिति" (सि० ४–३–१) गुणः, दवं करोषि दवयसि "णिज् बहुलं०" (सि० ३–४–४२) णिचा सिप्रत्यये रूपम् । किंविशिष्टान् आश्रितान् ? 'शुक्शिखादह्यमानान्' शुक् शोकः स एव शिखा ज्वाला तया दह्यमानान् ज्वाल्यमानान् । 'यदि वा' अथवा ब्रह्मपर्यायसक्ते पुरुषे एतत् किम् (किमपि न) असंभाव्यम्, ब्रह्म ब्रह्मचर्यं तस्य पर्यायः परिणामः तत्र सक्ते, अथवा ब्रह्मणो ब्राह्मणस्य पर्यायो वाडवस्तत्र सक्ते, यद्यपि ब्रह्मपर्याया द्विजाद्या बहवोऽपि सन्ति तथाऽप्यत्र सिन्धुसाधर्म्याद्दहनाधिकाराच्च वाडवो लभ्यते, अत्रापि सिन्धौ लोकरूढ्या वाडवो ज्वलन् वर्ण्यते, ब्रह्म-शब्देनापि ब्राह्मणः कथ्यते, यतः "सुयंत्रावाप्ट् मागर्वीरश्वमेधिन् मक्षुदद्गिति ब्रह्मन् मा विपादी" इत्यादि, "ब्रह्मस्त्रीभ्रूणगोघात०" इत्यादि योगशास्त्रादिप्रसिद्धेः । अत्र विरोधसमसमासोक्तिरूपकानु-प्रासाः । "नासं०" इत्यादि समम् ॥ ४६ ॥

कारुण्यौकश्चरिषु विघृणो बन्धुतायां सुतृष्णक्
मुक्तौ मूर्त्तिद्विषि कुलकनीस्त्रीकृतौ वीततृष्णः ।
कौलीनाक्षेदरविरहितः संस्तनैः कान्दिशीकः
प्रारब्धार्थांस्त्यजसि भजसेऽप्रस्तुतांस्तन्नमस्ते ॥ ४७ ॥

हे बन्धो ! 'तत्' तस्मात्कारणात् 'ते' तुभ्यं नमोऽस्तु, अयं नमस्कारो निन्दास्तुतिरूपः । यत् त्वं 'चरिषु' तिर्यक्षु 'कारुण्यौकः' कारुण्यस्य करुणाया ओकः स्थानम्, 'बन्धुतायां' बन्धुसमूहे 'विघृणः' निर्दयः, मुक्तौ 'सुतृष्णक्' सुष्ठु अतिशयेन तृष्णक् लुब्धः, किंरूपायां मुक्तौ ? 'मूर्त्तिद्विषि' मूर्त्ति शरीरं द्वेष्टि न सहते शरीरक्षये मुक्तिभावात्, अन्या या स्त्री भर्तुः शरीरद्वेषिण्यपि विप-कन्यारूपा साऽधमा । कुलकनी कुलकन्या तस्याः स्त्रीकृतौ पत्नी-

कारे 'वीततृष्णः' निःस्पृहः, कुलकनीति कथनेन या उत्तमस्त्रीत्वात् मूर्त्तेः सुखकारिणीति ज्ञापितम् । 'कौलीनार्तेः' परापवादः कौलीनं तस्यार्तेः प्राप्तेः 'दरविरहितः' दरेण भयेन विरहितः अङ्गीकृतविवाहत्यागेऽत्रापवादान्न बिभेषि । 'संसृतेः' संसारात् 'कान्दिशीकः' भीरुः । 'प्रारब्धार्थान्' विवाहमुख्यान् त्यजसि, 'अप्रस्तुतान्' अप्रारब्धान् वैराग्यमुख्यान् भजसे । अन्यो विवेकवान् पूर्वं प्रारब्धं कार्यं समाप्य पश्चादन्यत् कार्यान्तरं प्रारभते । बन्धूनां समूहो बन्धुता "ग्रामजनबन्धुगजसहायात्तल्" (सि० ६–२–२८) तल्प्रत्ययः, स, "आत्" (सि० २–४–१८) आप्प्रत्ययः । तृष्णगिति "ञितृषच् पिपासायां" तृष्यतीत्येवंशीलः "तृषिधृषिस्वपो नजिङ्" (सि० ५–२–८०) नजप्रत्ययः, नस्य णत्वम् । अत्र विरोधरूपकमसुखयपर्यायोक्तव्याजस्तुत्यनुप्रासाः । सर्वेणाप्यर्थेन भगवतो वैराग्यमेव वर्णितमिति पर्यायोक्तम् ॥ ४७ ॥

नर्तेऽर्तीनां नियतमवरापावरीमां तपस्यां
यस्योदर्कः सततसुखकृत्कृत्यमर्थ्यं सतां तत् ।
दामस्कर्मप्रसितभविनो मोचयिष्ये परीत् वा
नेमिः प्रत्यादिशदिति हरिं भूरि निर्बन्धयन्तम् ॥४८॥

नेमिः 'हरिं' श्रीकृष्णं 'इति प्रत्यादिशत्' इत्युक्त्या निषिद्धवान् । किंरूपं हरिम्? 'भूरि' अत्यर्थं 'निर्बन्धयन्तं' आग्रहं कुर्वन्तम् । इतीति किम्? हे हरे! इमां 'तपस्यां' दीक्षां 'ऋते' विना 'अवरा' काऽपि स्त्री ('नियतं' निश्चितम्) 'अर्तीनां' बाधानां 'न अपावरी' न अपनेत्री स्फोटयित्री यावत् । 'सतां' साधूनां तत् 'कृत्यं' कार्यं अर्थ्यं प्रार्थ्यम्, यस्य उदर्कः 'सततसुखकृत्' निरन्तरसुखकारी स्यात्, "उदर्कः तद्भवं फलम्" (अभि० चिं० २–७६) उत्तरकालोद्भवं फलमुदर्कः कथ्यते । अहं दाम बन्धनं मदिरापरमिव यानि यानि कर्माणि तैः प्रसिता बद्धा ये भविनः प्राणिनस्तान् 'मोचयिष्ये' कर्मबन्धनेभ्यस्तान् मोचयिष्यामीत्यर्थः । कानिव? 'वा' इवार्थे, 'परीन् वा'

ये: तिर्यञ्चः तानिव, यथा तिर्यञ्चो बन्धनान्मोचिताः । 'नर्तेऽ-
नां न ऋते अर्तानाम इति पदानि । तदस्मानित्यत्र "ऋते द्वितीया
" (सि० २-२-११४) इति ऋतेयोगे द्वितीया । अथार्ता
ओणृ अपनयने" इति ओण् धातुः, ओणतीति "मनवनङ्क्वनिप्विच्
विच्" (सि० ५-१-१४७) वन्, "अहन्पञ्चमस्य क्विङिति"
सि० ४-१-१०७) णकार आकार "ओदौतोऽवाव्" (सि०
-२-२४) इति अव् "लोकात्" (सि० १-१-३) ततोऽ-
वन् इति सिद्धम्, "जस्शसोर्वादिनो रम" (सि० २-४-४)
प्रत्ययः, नकारस्य रकारो "लोकात्" (सि० १-१-३) इति
वावरी सिद्धम्, प्रत्ययः सि, "दीर्घङ्याब्व्यञ्जनात्सेः" (सि०
-४-४५) सिलोपः । द्यामेवाचरन्ति "कर्तुः क्विप् गल्भक्लीब-
ढात्तु ङित्" (सि० ३-४-२५) क्विप्, "नाम्नो नोऽनह्नः"
सि० २-१-९१) नलोपः, "अप्रयोगीत्" (सि० १-१-३७)
मन्तीति वर्तमाना-शतृप्रत्ययः । अत्रोपमारूपकहेत्वलङ्काराः॥४८॥

तस्मिन्नेवं व्यवसितवति प्रश्लथप्रेमपाशा
नाशाश्वासच्छलपरिगलज्जीविता यादवीयाः ।
सोरस्ताडं घुघुरु रुरुदू रोदसी रोदयन्तः
प्रत्युत्पन्नप्रतिरवमिषान्मुक्तसर्वस्ववत्ते ॥ ४९ ॥

ते यादवीयाः 'सोरस्ताडं' यथा भवति उरस्ताडनं कुट्टनं
रस्ताडः, सह उरस्ताडेन वर्तते इति सोरस्ताडम्, 'घुघुरु' अत्यर्थं
था भवति 'रुरुदुः' रुदितवन्तः । क सति ? 'तस्मिन्' भगवति
वं 'व्यवसितवति' निश्चितवति सति यन्मया व्रतमेव ग्रहीतव्यम् ।
विशिष्टा यादवीयाः ? 'प्रश्लथप्रेमपाशाः' प्रश्लथः शिथिलीभूतः
मपाशः स्नेहबन्धनं येषाम्, पुनः कथंभूताः ? 'नाशा०' नाशा
सिका तस्याः श्वासस्तस्य च्छलेन परिगलत् च्यवमानं जीवितं
जीवितव्यं येषाम् । किं कुर्वन्तः ? 'प्रत्युत्पन्नप्रतिरवमिषात् रोदसी'

रोदयन्तः, प्रत्युत्पन्नः समुत्पन्नः प्रतिरवः प्रतिशब्दः तस्य गिरा रोदसी आकाशपृथिव्यौ । किंवत्? 'गुरुसरैस्तवत्' यथा गुरुसरैस्ता रुदन्ति । अत्र जातपद्धत्युपमानुप्रासाः ॥ ४९ ॥

तेषामेव प्ररुदितवतां किङ्करभाक्चिक्रो-
पोपानीतं विदधदभितोऽप्यर्थिसादर्थसार्थम् ।
प्रातः प्रातः स्वभवनगतो डिण्डिमोद्घोषपूर्वं
प्राक्रंस्तासौ वितरणमथो वार्षिकं हर्षधाम ॥ ५० ॥

'अथो' अनन्तरं 'असौ' भगवान् प्रातः प्रातः स्वभवनगतो 'डिण्डिमोद्घोषपूर्वं' डिण्डिमः पटहस्तस्य उद्घोषपूर्वकं 'वार्षिकं' सांवत्सरिकं 'वितरणं' दानं 'प्राक्रंस्त' प्रारब्धवान् । केषां किंभूतानाम्? 'तेषां' याचमानां 'प्ररुदितवतामेव' रोदितुं प्रारब्धानामेव । किं कुर्वन्? 'अभितोऽपि' समन्ततोऽपि 'अर्थिसात्' दरिद्रसात् 'अर्थसार्थम्' धनसमूहं विदधत् । किम्भूतमर्थसार्थम्? 'किङ्करभाक्चिक्रोपोपानीतं' किङ्करतां किङ्करत्वमाश्रयता वाक्यबलेन वैश्रवणेन तत्र समीपे उपानीतं ढौकितम् । किम्भूतं वितरणम्? 'हर्षधाम' हर्षस्थानम् । तेषामित्यत्र "षष्ठी वाऽनादरे" (सि० २-२-१०८) इत्यनेन (इति) षष्ठी, यथा रुदतो लोकस्य गच्छति वा लोकं रुदन्तं त्यक्त्वा गतः । प्ररुदितवतामित्यत्र प्र-उपसर्गः प्रारम्भे "गत्यर्थाकर्मकपिबभुजेः" (सि० ५-१-११) इत्यनेन कर्तरि क्तप्रत्ययः । किङ्कर इत्यत्रापि "[illegible]" (सि० ३-४-२५) इति क्विप्, "[illegible]" (सि० ७-४-४१) मत्प्रत्ययोऽपि, "अवर्णेवर्णस्य" (सि० १-१-३०) इति लोपः, किङ्करेति वर्तमाने "अज्ञाने ज्ञः०" (सि० ५-१-३०) स्वार्थे किङ्करेति भिन्नम्, किङ्करस्य भावः किङ्करत्वं तेन । अर्थिषु भगवतर्थिसात् "सात्०" (सि० ७-२-१३०) इति प्रत्ययः । प्राक्रंस्तेति "क्रमू पादविक्षेपे" धातुः, "प्रोपादारम्भे"

तस्य यत्नस्य पुनरुद्धरणं न स्यात्तथा यदि त्वमपि अभिपूश्यस्वजनसाक्षिकं परिणीय मुक्ताऽभविष्यत् तदा तव सत्याः पुनः पाणिग्रहणं नाघटिष्यन्, किन्तु त्वमपरिणीतैव मुक्ताऽसि अतस्तव पुनरन्यो वरो भविष्यतीत्याह—'अथ' अनन्तरं तव 'राजन्यानां' राजकुमाराणां (अधिगुणतरो) अन्यः 'विवोढा' वरो भावी, अतो नेमिनाथे चलितेऽपि अधृतिर्न कार्येति भावः । धूमध्वजश्च गुरुजनश्च धूमध्वजगुरुजनौ, तयोरग्रे अग्रेधूमध्वजगुरुजनम् "पारे मध्येऽग्रेऽन्तः षष्ठ्या वा" (सि० ३-१-३०) इति सप्तम्या अलुप्, अव्ययीभावः समासः । राजन्यानामित्यत्र "सप्तमी चाविभागे निर्धारणे" (सि० २-३-१०९) इति षष्ठी राज्ञोऽपत्यानि राजन्याः "जातौ राज्ञः (यः)" (सि० ६-१-९२) इति यप्रत्ययः । विवोढेति "वहीं प्रापणे" वह्, विवहतीति विवोढा "णकतृचौ" (सि० ५-१-४८) तृच्-प्रत्ययः, "हो धुट् पदान्ते" (सि० २-१-८२) ह ढ, "अधश्चतुर्थात्तथोर्धः" (सि० २-१-७९) त ध, "तवर्गस्य श्चवर्गष्टवर्गाभ्यां योगे चटवर्गौ" (सि० १-३-६०) ध ढ, "सहिवहेरोच्चावर्णस्य" (सि० १-३-४३) पूर्वढलोपः अकार ओ ति इत्यादि । अत्र विषमसमाद्यलङ्कारः ॥ ५३ ॥

क्व ग्रावाणः क्व कनकनगः काचकाः कामदुः
काचांशाः क्व क्व दिविजमणिः कोद्रवः क्व क्षुरत्नम् ।
कान्ये भूपाः क्व भुवनगुरुस्तस्य तद्योगिनीव
ध्यानान्नेष्ये समयमिति ताः प्रत्यथ प्रत्यजानि ॥ ५४ ॥

हे मेघ ! अहम् अथ 'ताः' सखीः प्रति इति 'प्रत्यजानि' प्रतिज्ञातवती । इतीति किम्? अहं 'तत्' तस्मात्कारणात् योगिनीव तस्य ध्यानात् 'समयं' कालं 'नेष्ये' गमयिष्यामि । तत् किम्? हे सख्यः! क्व 'ग्रावाणः' पाषाणाः? क्व 'कनकनगः' मेरुः?

धारि, किं विशिष्टस्त्वम्? (विश्वविश्वाभिनन्द्यः) स्पष्टम्। 'तदपि च' तथापि च 'सा इयं' अहं आगार्हस्थ्यस्थिति 'अक्षुध्यैव' भगवत 'आशां' इष्टां (इति) बिभ्रती अस्थाम्. अयं भावः—यावत्स भगवान् गृहस्थोऽभूत् तावत्तस्याशा न मुक्ता यत् अङ्गीकरिष्यति तस्यै मां, येव? 'प्रजेव' यथा प्रजा 'आवार्षिकर्धि' वार्षिकाणि वर्षासम्बन्धीनि कणानि नक्षत्राणि तानि यावत्तेषामाशां बिभ्रती तिष्ठति, यथा रवौ स्वच्छवृष्टिं कृत्वा गते सति यावद्वर्षानक्षत्राणि भवन्ति तावत्प्रजानामाशाऽऽस्ते कुर्वन्नेव तिष्ठति, यद् अत्र वर्षिष्यति तस्ये वर्षिष्यतीति। अतिर्यग्वारमिति निर्देश्यं कृत्वा तिर्यग्वारम् ''तिर्यचापवर्गे'' (सि० ५-४-८५) इति णम्। गार्हस्थ्यस्थि-तेर्यावत् आगार्हस्थ्यस्थिति ''आङ्यावधौ'' (सि० २-२-७०) इति पञ्चमीयान्तौ ''पर्यपाङ्बहिरञ्च् पञ्चम्या'' (सि० ३-१-३२) इत्यव्ययीभावः समासः। एवमावार्षिकर्धिमिति ज्ञेयम्। अत्र दृष्टान्तोपमायाः ॥ ५५ ॥

इति आचार्य-श्रीशीलरत्नसूरिविरचितायां श्रीजैनमेघदूत-महाकाव्यटीकायां तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥



यासि, किंविशिष्टस्त्वम्? (विश्वविश्वाभिनन्द्यः) स्पष्टम्। 'तदपि च' तथापि च 'सा इयं' अहं आगार्हस्थ्यस्थिति 'अमुष्यैव' भगवत 'आशां' इच्छां (हृदि) विदधती अस्थाम्, अयं भावः—यावत्स भगवान् गृहस्थोऽभूत् तावन्मयाशा न मुक्ता यत् अङ्गीकरिष्यति कल्ये वा, केव? 'प्रजेव' यथा प्रजा 'आवार्षिकर्क्षं' वार्षिकाणि वर्षासम्बन्धीनि ऋक्षाणि नक्षत्राणि तानि यावत्तवैवाशां विदधती तिष्ठति, यथा श्वयि गण्डवृष्टिं कृत्वा गते सति यावद्वर्षानक्षत्राणि भवन्ति तावज्जनस्तथाऽऽशां कुर्वन्नेव तिष्ठति, यद् अद्य वर्षिष्यति कल्ये वर्षिष्यतीति। अनिर्यक्कारमिति निर्यञ्चं कृत्वा तिर्यक्कारम् "तिर्यच्यपवर्गे" (सि० ५–४–८५) इति णम्। गार्हस्थ्यस्थितेर्यावत् आगार्हस्थ्यस्थिति "आङावधौ" (सि० २–२–७०) इति पञ्चमीप्राप्तौ "पर्यपाङ्बहिरच् पञ्चम्या" (सि० ३–१–३२) इत्यव्ययीभावः समासः। एवमावार्षिकर्क्षमिति ज्ञेयम्। अत्र दृष्टान्तोपमायाः ॥ ५५ ॥

इति आचार्य-श्रीशीलरत्नसूरिविरचितायां श्रीजैनमेघदूत-महाकाव्यटीकायां तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥



अथ चतुर्थः सर्गः ।

श्रीनेमीशः प्रतिदिनमथो कोटिमष्टौ च लक्षा
हेम्नः प्रातर्ददभिजनं कल्पमालायते स्म ।
चित्रं कम्प करकिसलयं ना[illegible]प पादप्रदेशे
लग्नाः पुण्यस्मितसुमनसश्छायया भाति विश्वम् ॥ १ ॥

अथो अनन्तरं [illegible] प्रतिदिनं प्रातः' प्रभाते 'अभिजनं' [illegible] [illegible] [illegible] अष्टौ च लक्षा ददत् [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] स्म । 'चित्रं' आश्चर्यं [illegible] [illegible] करो न कम्पते स्म, पादप्रदेशे [illegible] [illegible] पुण्यैः सुकृतैः स्मिता [illegible] [illegible] च [illegible] 'छायया' शोभया विश्वं 'भाति' [illegible] । [illegible] कम्पते, पुण्यानि [illegible] [illegible] शिरसि लगन्ति, [illegible] [illegible]विकयम् । लक्षशब्दः [illegible] । [illegible]नेकभेदाः ॥ १ ॥

चिन्तारत्नं दृषदपगतज्ञानलेशः सुरद्रुः
स्वर्धेनुः सा पशुगतिगता पूर्णकुम्भश्च मृत्स्ना ।
चिन्तातीतं जगति [illegible] [illegible] दोषैः
प्रोक्तैरन्यैरपि परिहृतः मेघ केनोपमेयः ॥ २ ॥

हे मेघ ! 'चिन्तारत्नं' चिन्तामणिः 'दृषत्' पाषाणः, 'सुरद्रुः' कल्पवृक्षः 'अपगतज्ञानलेशः' अपगतो ज्ञानस्य लेशो यस्मात्स जड इत्यर्थः, विशिष्टज्ञानाभावादेवमुक्तम् । सा 'स्वर्धेनुः' कामधेनुः 'पशुगतिगता' [illegible], 'च' अन्यत् 'पूर्णकुम्भः' कामकुम्भः 'मृत्स्ना'

१ [illegible] सर्वेषां चिन्त्यम् ।

ृत्तिका, ततः स एष भगवान् केन 'उपमेयः' उपमानयोग्यः ?,
किं कुर्वन् ? 'जगति' पृथिव्यां 'चिन्तातीतं' चिन्तातिक्रान्तं रुक्म-
त्नादि 'वितरन्' ददन्, रुक्मं सुवर्णं, रत्नानि पद्मरागादीनि, आदि-
शब्दाद्दुकूलाभरणहस्तितुरगादिपरिग्रहः। किंविशिष्टो भगवान्? प्रोक्तैः
ोषैः चिन्तामण्यादिसम्बन्धिभिः अन्यैः अप्रोक्तैरपि दोषैः 'परिहृतः'
त्यक्तः, अतः स भगवान् दानगुणेन अनुपमान एवेत्यर्थः। अत्राति-
ायोक्तिरलङ्कारः ॥ २ ॥

सम्पूर्णायां शरदि शरदः प्राक्तनर्वां कदाचिन्
नेमिः क्षेमङ्करचरितधीर्याप्ययानाधिरूढः ।
शक्रेशानाधिपधृतचलच्चामरोपास्यमानः
शुद्धध्यानध्वनत इव च्छत्रलक्ष्येक्ष्यकीर्त्तिः ॥ ३ ॥
देवव्यूहैः समनुचरितः सर्वतो मागधर्द्धि-
र्ज्ञातेयेषु प्रस्तनमतिभिः साधुभिर्दृश्यमूर्त्तिः ।
दिव्यातोद्ये निनदति मया काननं भूषिताङ्गो
गच्छन् दृष्टो रविरिव घनाभीरजिन्या गवाक्षात् ॥ ४ ॥
॥ युग्मम् ॥

हे मेघ ! पाणिग्रहणत्यागादनु 'शरदि' वर्षे सम्पूर्णायां 'शरदः'
शरत्कालात् 'प्राक्तनर्वौ' पूर्वर्तौ वर्षासु ऋतौ 'कदाचित्' कस्मिंश्चिद-
वसरे मया 'गवाक्षात्' गवाक्षमारुह्य नेमिः 'काननं' वनं गच्छन्
दृष्टः । किंरूपो नेमिः ? 'क्षेमङ्करचरितधीः' क्षेमङ्करं कल्याणकारि
चरितं चरित्रं यत्र धीः बुद्धिर्यस्य, पुनः कथंभूतः 'याप्यया-
नाधिरूढः' याप्ययानं शिबिकां अधिरूढः 'शक्रेशानाधिपधृतचल-
च्चामरोपास्यमानः' सौधर्मेन्द्रेशानेन्द्राभ्यां धृताभ्यां चलद्भ्यां चाम-
राभ्यामुपास्यमानः सेव्यमानः । उत्प्रेक्ष्यते—शुद्धेन ध्यानद्व-
येन धर्मध्यानशुक्लध्यानरूपेण नत इव । 'छत्रलक्ष्येक्ष्यकीर्त्तिः'
छत्रस्य लक्ष्येण मिषेण ईक्ष्या दर्शनीया कीर्त्तिर्यस्य । पुनः कथंभूतः ?

देवस्यार्हे सर्वत्र, सर्वेषामपि समनुचरैः 'मम सामग्र्येन अनु-चरैः अनुगतैः किंविशिष्टैः ? 'मागधैः' मागधैरिव आचरद्भिः । 'ज्ञातेयम्' ज्ञातेयं [illegible] 'समनस्विभिः' सम्मुना विस्मृता मतिः बुद्धिर्येषां ते [illegible] 'मानुभिः' शरदश्रुनेत्रैः [illegible] 'निनदवि' [illegible] मणि । किंविशिष्टो नेमिः ? 'अभिनाद्ध' स्पष्टम् । क इव ? रविरिव यथा [illegible] रविः श्रीसूर्यः 'वनात्' वनमालिनः [illegible] तदाश्रित्य तत्र स्थितमेतत् [illegible] वन प्रविशन् दृश्यते, अथवा कस्य पानीयस्य आननं मुखम्, यावत् पश्चिमाम्भोधौ रविर्निमज्जतीति मति । क्षेमङ्करेति क्षेमं करोतीति "क्षेमप्रियमद्रभद्रात् खाण्" (सि० ५-१-१०५) इति अणप्रत्यये [illegible] रूपोमोऽन्तो ऽम्बश्च (सि० [illegible]) इति [illegible] क्षेमङ्करेति पदम् । मागधा [illegible] (सि० [illegible]-४-२५) किंपि [illegible] ज्ञातेयम् ज्ञातेर्भावः स्वजनाः, ज्ञातेर्भावानि ज्ञातेयाः, इकोऽजिच. (सि० ६-१-७२) इति एयण् । दिव्यानोऽग्र इति ज्ञातेयैकवचनम् । वनात् गवाक्षादिति "गम्ययप कर्माधारे" (सि० २-२-७४) इति पञ्चमी । अत्र परिकरोत्प्रेक्षोपमानुप्रासा ॥ ४-४ ॥

सद्योमायद्विपमविरहावाधविस्मारिणी मां
मूर्च्छाऽतुच्छाऽसजदसुपरिभ्रंशभीता सखीव ।
यावत्तावत् परपरिचितैर्मन्मरैणेव सख्यः
कृत्वा किञ्चिच्छलमलमपासारयंस्तां वराकीम् ॥ ५ ॥

हे मेघ ! यावत् अतुच्छा मूर्छा मां 'असजत्' आलिङ्गत्, किंविशिष्टा ? 'सद्योमाय०' सद्यः तत्कालं मायन् प्रबलीभवन् विषमविरहस्य आबाधः पीडा तां (त) विस्मारयतीति, उत्प्रेक्ष्यते—असूनां प्राणानां परिभ्रंशात् च्यवनात् भीता सखीव, यथा सखी काचि-

द्वाढदुःखितां सखी विरहार्त्तिविस्मारणार्थं सजति यावत् सख्यः 'किञ्चिच्छलं' जलसेचनादिकं कृत्वा तां वराकीं ('अलं' अत्यर्थं) अपामारयन्, उत्प्रेक्ष्यते—'परपरिचितेः' अन्यपरिचयस्य मत्सरेणेव, अचेतना हि सख्यः परपरिचयं न क्षमन्ते इति । एतावता श्रीनेमिनं गच्छन्तं दृष्ट्वा मम विरहदुःखान्मूर्छा समेता, ततः सखीभिः जलसेचनाद्युपचारैर्मूर्छा चालितेति । अत्रोत्प्रेक्षानुप्रासोपमाद्याः ॥५॥

त्यक्तभावः परमचिकिलक्लिन्नवासोपदेषा
हा किं भावि ? स्फुटसि हृदय ? द्वैधमापद्य किं न ? ।
ईदृक्चिन्ताकुलतममनस्तापबाष्पायितास्यो-
द्यातास्राम्बुर्व्यजनिषि ततोऽस्तोकशोकोदकुम्भः ॥ ६ ॥

हे मेघ ! 'ततः' तदनन्तरं अहं 'अस्तोकशोकोदकुम्भः व्यजनिषि' अस्तोको बहुलः शोकस्तदेव उदकं तस्य कुम्भः उदकुम्भः पानीयकुम्भरूपा जाता । किंरूपाऽहम् ? 'ईदृक्चिन्ता०' ईदृग् वक्ष्यमाणा या चिन्ता तयाऽऽकुलतमं अत्याकुलं यन्मनस्तस्य तापेन बाष्पाम् उष्णनिःश्वासरूपाम् उद्वान्तं यद् आस्यं मुखं तस्मादुद्यातानि प्रवाहेण व्यूढानि अस्राम्बूनि अश्रुजलानि यस्याः सा ईदृक्षा । 'एषा' अहं अतः परं 'अचिकिलक्लिन्नवासोपम्' त्यक्तैव, अचिकिलः कर्दमस्तेन क्लिन्नं आर्द्रं यद्वासो वस्त्रं तद्वत् । यावद्भगवान् गृहस्थ आसीत्तावदाशाऽभूत् यद् अयं स्वीकरिष्यति मल्ये वा, अतः परं तु दीक्षितेन भगवताऽहं त्यक्तैव । 'हा' इति खेदे, किं भावि ?, हे हृदय ! 'द्वैधं' द्विधात्वं 'आपद्य' प्राप्य किं न 'स्फुटसि' विदीर्यसे ? । द्वौ प्रकारौ द्वैधम् "द्वित्रेर्धमण्धौ वा" (सि० ७–२–१०७) इति धमण्प्रत्ययः, "वृद्धिः स्वरेष्वा०" (सि० ७–४–१) । बाष्पमुद्वान्तं बाष्पायितम् "फेनोष्मबाष्पधूमादुद्वमने" (सि० ३–४–३३) क्यङ्प्रत्ययः, "दीर्घश्च्वियङ्यक्क्येषु०" (सि० ४–३–१०८) दीर्घः, बाष्पायते स्म बाष्पायितं "क्तक्तवतू"

(सि० ५–१–१७४) कप्रत्यय इत्यादि । उदकस्य कुम्भ उदकुम्भ "वैकव्यञ्जने पूर्वे" (सि० ३–२–१०५) इति उदकस्य उद अत्रोपमातिशयोक्तिरूपकानुप्रासाः ॥ ६ ॥

प्राग्निर्दग्धं दिनदिननवत्तीव्रवर्षेजशुष्म-
प्रख्यासौख्यैर्जगदिनजगज्जीवनापानपीनम् ।
सम्प्रत्युष्णोच्छ्वसितवशतो बाष्पधूमायमानं
स्फोटं स्फोटं हृदयमिदकं चूर्णखण्डीयते स्म ॥ ७ ॥

हे मेघ ! 'इदकं' हृदयं 'स्फोटं स्फोटं' स्फुटित्वा स्फुटित्वा 'चूर्णखण्डीयते स्म' चूर्णखण्डमिवाचरति स्म, किंरूपं हृदयम् ? 'दिनदिननवत्तीव्रवर्षेजशुष्मप्रख्यासौख्यैः प्राग्निर्दग्धं' दिने दिने नवन्ति नवीनानीवाचरन्तीति तीव्राणि वर्षेजानि वर्षोत्पन्नानि शुष्मप्रख्यानि शुष्मा अग्निः तत्प्रख्यानि तत्प्रकाराणि असौख्यानि दुःखानि तैः (प्राक्–पूर्वं) निर्दग्धम्, पुनः कथंभूतम् ? 'जगदिन०' जगत इनः स्वामी श्रीनेमीश्वरस्य यज्जगज्जीवनं आपानं अत्यन्तदर्शनं तेन पीनं उपचितम्, पक्षे जीवनं पानीयं तस्य आ सामस्त्येन पानम्, पुनः कथंभूतम् ? 'सम्प्रति' अधुना 'उष्णोच्छ्वसितवशतो बाष्पधूमायमानम्' उष्णानि उच्छ्वसितानि तेषां वशतो बाष्पसम्बन्धी धूमस्तमुद्वमत्, अयमर्थः—यथा चूर्णखण्डं पूर्वमग्निना दह्यते पश्चात् पानीयेन सिच्यते ततो बाष्पधूमं वमति ततः स्फुटति, एवमत्रापि यानि भगवत्तोरणपश्चाद्वलनदीक्षाग्रहणान्तरालवर्षसमुत्पन्नानि दिने दिने नवीनान्येव विरहदुःखानि तान्यग्निसदृशानि पश्चाद्रैवतसमये भगवतो यद्दर्शनं तदेव जलं तेन पानम्, अधुना तु उष्णोच्छ्वासा बाष्पधूमतुल्याः । वर्षेज इत्यत्र वर्षे जायन्त इति वर्षेजानि "सप्तम्याः" (सि० ५–२–१६९) इति डप्रत्ययः, "डिसन्त्स्वरादेः" (सि०२–१–११४) अन्त्यलोपः, "वर्षक्षरवराप्सरःशरोरोमनसो जे" (सि०३–२–२६) इति सप्तम्या अलुप् । धूममुद्वमतीति "फेनोष्मबाष्पधू-

गादुद्गमने" (सि० ३-४-३३)स्फोटं स्फोटं णम्प्रत्ययः । कुत्सितम-
ल्पमज्ञातं वा इदं इदकम् "श्लोकात्" (सि० १-१-३) अम् , अमे
विशेषः, "त्यादिसर्वादेः स्वरेष्वन्त्यात्पूर्वोऽक्" (सि० ७-३-२९)
विचालेऽक्प्रत्ययः । अत्रोपमानुप्रासाद्याः ॥ ७ ॥

अत्र त्यक्त्वाऽखिलमपि यता स्वामिना काननाय
व्युच्छिन्नाशा मुकुलितमुखी दीर्घदाहैकसद्म ।
रक्तोदेष्यन्निजपतिकरासञ्जनादस्तिसार्यं-
वीकाशाशा दिनकुमुदिनीर्बह्वमन्येऽद्य मत्तः ॥ ८ ॥

अहं अत्र 'मत्तः' मत्सकाशात् 'दिनकुमुदिनीः बहु अमन्ये' दिने कुमुदिन्यः संकुचिता निःश्रीका भवन्ति परं ता अपि मत्तो भव्या इत्यर्थः, किंविशिष्टाऽहम् ? स्वामिना 'व्युच्छिन्नाशा' त्रोटिताभिलाषा । किंविशिष्टेन स्वामिना ? अत्र 'अखिलमपि' गृहपरिवारालंकारादिकं त्यक्त्वा 'काननाय' वनाय 'यता' गच्छता । 'मुकुलितमुखी' संकुचितवक्त्रा, 'दीर्घदाहैकसद्म' स्पष्टम् । किंरूपा दिनकुमुदिनीः ? 'रक्तोदेष्यन्निजपतिकरासञ्जनात् अस्तिसायंवीकाशाशाः' रक्तो रक्तवर्णः उदेष्यन् उदयं प्राप्स्यन् निज आत्मीयः पतिः स्वामी चन्द्रः तस्य कराणां आसञ्जनात् आश्लेषात् अस्ति विद्यमाना सायं सन्ध्यायां वीकाशाशा विकस्वरत्ववाञ्छा यासां ताः, सायं चन्द्र उदेष्यति तत्कराश्लेषाच्च विकस्वरा भविष्यन्ति. अहं तु तथाविधा नास्मि, तत्पक्षे रक्तो रागपरः सन् प्राबल्येन उदयन आगमिष्यन् निजः पतिः स्वामी तस्य करस्यासञ्जनात् आश्लेषात् विशेषेण रमिष्यमाणवीकाशाशा, मम विशेषोऽपि स्वपतिकराश्लेषो नास्तीत्यर्थः । यता इति "इणूक् गतौ" एतस्मात् वर्तमाने शतृप्रत्ययः अत्र, "इणोरविनिपूर्वौ" (सि० ४-२-१५)यत्वं शतृप्रत्ययः । मुकुलितमुखीति "नखमुखादनाम्नि" (सि० २-४-४०) ङीप्रत्ययः । काननायेति "गतेर्नवाऽनाप्ते" (सि० २-२-६३) इति कर्म-

(सि० ५-१-[illegible]) [illegible] । [illegible]
"[illegible] पूर्वे" (सि० ३-२-[illegible]) इति [illegible]
[illegible] ॥ ६ ॥

वासितैर्दिनदिन[illegible]
[illegible]दिनगण[illegible]नम् ।
सम्प्रत्युष्णोद्गमितसरसो बाष्पधूमायमानं
स्फोटं स्फोटं हृदयमिदकं [illegible] ॥ ७ ॥

हे जिन ! 'इदकं' इदं 'स्फोटं स्फोटं' [illegible] पूर्वं
[illegible] [illegible], किम्भूतम् ? 'दिन-
दिनतर[illegible] [illegible] वासितैः [illegible]
[illegible]
[illegible] दुःखानि तैः
(वाक्-पूर्वं) [illegible], पुनः कथंभूतम् ? '[illegible]०' [illegible]
स्वामी श्रीनेमीश्वरस्य [illegible]जीवनं [illegible] [illegible] तेन पीतं
[illegible], [illegible] जीवनं पानीयं तस्य आ [illegible] पानम्, पुनः कथं-
भूतम् ? 'सम्प्रति' अधुना 'उष्णोद्गमितसरसो बाष्पधूमायमानम्'
उष्णानि उद्गमितानि तेषां सरसो बाष्पसम्बन्धी धूमस्तमुद्वमत्,
अयमर्थः—यथा चूर्णितखण्डं पूर्वमग्निना दह्यते पश्चात् पानीयेन
सिच्यते ततो बाष्पधूमं वमति ततः स्फुटति, एवमत्रापि यानि
भगवतोरणपश्चाद्वलनदीक्षाग्रहणान्वरात्तवर्षमनुत्पन्नानि दिने दिने
नवीनान्येव विरहदुःखानि वाह्निसदृशानि पश्चाद्दीक्षानन्तरं भगवतो
यद्दर्शनं तदेव जलं तेन पानम्, अधुना तु उष्णोद्गमिता बाष्पधूम-
तुल्याः । वर्षेज इत्यत्र वर्षे जायन्त इति वर्षेजानि "सप्तम्याः" (सि०
५-२-१६९) इति डप्रत्ययः, "डित्यन्त्यस्वरादेः" (सि०२-१-
११४) अन्त्यलोपः, "वर्षक्षरवराप्सरःशरोरोमनसो जे" (सि०३-
२-२६) इति सप्तम्या अलुप् । धूममुद्वमतीति "फेनोष्मबाष्पधू-

माद्गुद्गमने" (सि० ३-४-२२) स्फोटं स्फोटं णम्प्रत्ययः । कुत्सितम-स्पमज्ञातं वा इदं इदकम् "त्योकात्" (सि० १-१-३) अम्, अपे विश्लेषः, "त्यादिसर्वादेः स्वरेष्वन्त्यात्पूर्वोऽक्" (सि० ७-३-२९) विचालेऽक्प्रत्ययः । अत्रोपमानुप्रासाद्याः ॥ ७ ॥

अत्र त्यक्त्वाऽखिलमपि यता स्वामिना काननाय
व्युच्छिन्नाशा मुकुलितमुखी दीर्घदाहैकसत्त्व ।
रक्तोदेष्यन्निजपतिकरासञ्जनादस्तिसायं-
वीकाशाशा दिनकुमुदिनीर्बह्वमन्येऽद्य मत्तः ॥ ८ ॥

अहं अत्र 'मत्तः' मत्सकाशात् 'दिनकुमुदिनीः बहु अमन्ये' दिने कुमुदिन्यः संकुचिता निःश्रीका भवन्ति परं ता अपि मत्तो भव्या इत्यर्थः, किंविशिष्टाऽहम् ? स्वामिना 'व्युच्छिन्नाशा' त्रोटिताभिलाषा । किंविशिष्टेन स्वामिना ? अत्र 'अखिलमपि' गृहपरिवारालङ्कारादिकं त्यक्त्वा 'काननाय' वनाय 'यता' गच्छता । 'मुकुलितमुखी' संकुचितवक्त्रा, 'दीर्घदाहैकसत्त्व' स्पष्टम् । किंरूपा दिनकुमुदिनीः ? 'रक्तोदेष्यन्निजपतिकरासञ्जनात् अस्तिसायंवीकाशाशाः' रक्तो रक्तवर्णः उदेष्यन् उदयं प्राप्स्यन् निज आत्मीयः पतिः स्वामी चन्द्रः तस्य कराणां आसञ्जनात् आश्लेषात् अस्ति विद्यमाना सायं सन्ध्यायां वीकाशाशा विकस्वरत्ववाञ्छा यासां ताः, सायं चन्द्र उदेष्यति तत्कराश्लेषात्ता विकस्वरा भविष्यन्ति, अहं तु एवंविधा नास्मि, मत्पक्षे रक्तो रागपर उत् प्राबल्येन एष्यन् आगमिष्यन् निजः पतिः स्वामी तस्य करस्यासञ्जनात् आश्लेषात् चिरेणाऽपि समानवीकाशाशा, मम चिरेणापि स्वपतिकराश्लेषो नाभीत्यर्थः । यता इति "इणूक् गतौ" एतीति वर्तमाने शतृप्रत्ययः अत्, "इणोरतरिनिष्ठ्यौ" (सि० ४-३-१५) यत्वं टाप्रत्ययः । मुकुलितमुखीति "नखमुखादनाम्नि" (सि० २-४-४०) ङीप्रत्ययः । काननायेति "गत्यर्थवाऽनाप्ते" (सि० २-२-६२) इति चर्थे-

कोकी शोकांस्तमिविगमे यामगन्ते चकोरी
शीतोष्णानुप्रशमसमये मुञ्चते नीलकण्ठी ।
त्यक्ता पत्या तरुणिमभरे कञ्चुकश्चक्रिणेवा-
ऽमत्रं धारां हृद इव शुचामाभवं त्वाभवं भोः ॥ ९ ॥

'भो मेघ' 'कोकी' चक्रवाकी तमिविगमे प्रभातसमये शोकान् विरहान् मुञ्चते, चकोरी यामगन्ते दिनान्ते शोकान्मुञ्चते, 'नीलकण्ठी' मयूरी शीतोष्णानुप्रशमसमये शोकान्मुञ्चते, शीतोष्णसम्बन्धिनो ये ऊनवासरास्तेषां प्रशमः प्रान्तः तस्य समये वर्षाकालप्रारम्भे इत्यर्थः । 'तु' पुनर्भो मेघ ! अहं 'आभवं' भवं जन्म यावत् 'शुचां' शोकानां 'अमत्रं' पात्रं 'आभवं' आ सामस्त्येन अभवम् । क इव ? ह्रद इव' यथा ह्रदः 'धारां' पानीयानाममत्रं भवति । किम्भूताऽहम् ? 'तरुणिमभरे' तारुण्योत्कर्षे पत्या त्यक्ता, क इव ? 'कञ्चुक इव' यथा 'चक्रिणा' सर्पेण कञ्चुको निर्मोकपट्टः त्यज्यते, यथा स न त्वरया उद्याति तथा सोऽपि मां त्वरया उद्यातवानेव । तरुणस्य भावः तरुणिमा "पृथ्वादेरिमन् वा" (सि० ७-१-५८) इति इमन्प्रत्ययः । अत्र समुच्चयातिशयोक्त्युपमानानुप्रासाः ॥ ९ ॥

शम्याकृत्योपयमनियमोद्दुःखहृत्याभिरुद्धे
भर्तुर्दीक्षाग्रहनिशमनेनाद्य बीजाकृतेऽथ ।
सिक्तो नेत्राम्बुभिरविरलैः शोकशालिर्विशाले
शालेयेऽस्मिन्नुरसि सरसे पश्य पम्फुल्यतेऽसौ ॥ १० ॥

अहो मेघ ! 'पश्य' विलोकय (अत्र) अस्मिन् 'उरसि' हृदये 'विशाले' विस्तीर्णे 'शालेये' क्षेत्रे असौ शोकशालिः 'पम्फुल्यते' अत्यर्थं फलति, किंरूपे शालेये ? 'उपयमनियमोद्दुःखहल्याभिः शम्बाकृत्य उप्ते' उपयमः पाणिग्रहणं तस्य नियमस्तस्माद् यानि उद्दुःखानि प्रबलदुःखानि तान्येव हल्या हलानि ताभिः शम्बाकृत्य अनुलोम्य कृष्टं तिर्यक् कृष्ट्वा उप्ते वापयुक्ते, पुनः कथंभूते ? 'अथ' अनन्तरं 'भर्तुः' स्वामिनः 'दीक्षाग्रहनिशमनेन' दीक्षाग्रहणश्रवणेन 'बीजाकृते' आदावुप्ते पश्चाद्बीजैः सह कृष्टे इत्यर्थः । किंविशिष्टः शोकशालिः ? अविरलैः 'नेत्राम्बुभिः' अश्रुजलैः सिक्तः । पुनः कथंभूते उरसि ? 'सरसे' शृङ्गाररसयुक्ते, पक्षे सरसे आर्द्रे । शम्याकरणं पूर्वं बीजाक्रियते स्म बीजाकृतम् इत्यत्र "तीयशम्बबीजात् कृगा कृषौ डाच्" (सि० ७–२–१३५) इति डाच्प्रत्ययः । अत्र रूपकानुप्रासातिशयोक्तयः ॥ १० ॥

दुःखस्यैवं जलधर ! परां कोटिमाटीकितां मां
　　चक्रस्येवोद्धुरविरहतस्तस्य भार्यां विदित्वा ।
चेत्त्वं सम्यग् जगति सविता तज्जनोधैर्गवीयं
　　तन्वानो मन्मुद उदपदं त्वं क्षमाधीशवित्तम् ॥ ११ ॥

हे जलधर ! 'चेत्' यदि त्वं 'जगति' विश्वे सम्यक् 'सविता' पिता असि, अत्यन्तजगद्वत्सलत्वेन पितुरारोपः, अथवा सविता सूर्यः, 'तत्' तस्माद्धेतोः त्वं तं 'क्षमाधीशवित्तं भज' दूतत्वं कुर्विति यावत्, क्षमायाः शमस्य अधीशाः स्वामिनो मुनयस्तेषु वित्तं प्रधानं मुनीन्द्रश्रेष्ठमित्यर्थः, पक्षे क्षमां पृथिवीं दधातीति "उपसर्गादः किः" (सि० ५–३–८७) इति किप्रत्यये क्षमाधयः पर्वताः तेषामीशाः स्वामिनः प्रधानपर्वतास्तेषु वित्तं प्रसिद्धमुदयाचलमित्यर्थः । किं कृत्वा ? मां तस्य भार्यां चक्रस्य भार्यामिव 'उद्धुरविरहतः' प्रबलविरहात् 'एवं' अमुना प्रकारेण दुःखस्य 'परां' प्रकृष्टां 'कोटिं' अग्रविभागं 'आटी-

'याप्यायमाना' कामाग्नितापादत्यर्थं याप्यमुद्वमन्ती,' अनन्योच्छिष्टा' अन्यैरभुक्तेत्यर्थः । किंरूपेण त्वया ? 'नवरुचिभृताऽपि' नवा रुचिः कान्तिर्जिघत्सा वा तां बिभर्तीत्येवंभूतः तेन, यथाऽन्योऽपि बुभुक्षावान् शीतलां क्षैरेयीं न भुङ्क्ते परमत्युष्णां क्षैरेयीं भुङ्क्ते तथा कामाग्निनप्ताया ममापि भोगे साम्प्रतमवसर इत्यर्थः । अत्रोपमाक्षेपविशेषोक्तयः ॥ १५ ॥

आसीः पश्चादपि यदि विभो ! मां मुमुक्षुर्मुमुक्षुः
भूत्वा तत्किं प्रथममुररीचर्करीषि स्वयुक्त्या ।
सन्तः सर्वेऽप्यतरलतया तत्तदेवाद्रियन्ते
यन्निर्वोढुं हरशशिकलान्यायतः शक्नुवन्ति ॥ १६ ॥

हे ('विभो!') नाथ ! त्वं पश्चादपि यदि 'मुमुक्षुः' मुनिः भूत्वा मां 'मुमुक्षुः' मोक्तुकाम आसीः तत् प्रथमं 'स्वयुक्त्या' स्वजनयुक्त्या किं 'उररीचर्करीषि' अत्यर्थमङ्गीकरोषि ?, सर्वेऽपि सन्तः 'अतरलतया' निश्चलतया तत्तदेव वस्तु 'आद्रियन्ते' प्रारभन्ते यद् हरशशिकलान्यायतः 'निर्वोढुं' निर्वहणाय 'शक्नुवन्ति' समर्था भवन्ति, यथा हरेण ईश्वरेण शशिकला चन्द्रकला मस्तके स्थापिता कदापि न मुच्यते । उररी इति अङ्गीकारार्थे ऊर्यादौ, "ऊर्यादिच्विडाचश्च गतिः" (सि० ३-१-२) गतिसंज्ञा । अत्रानुप्रासार्थान्तरन्यासनिदर्शनाः ॥ १६ ॥

सत्रादत्राहृतममुमतां वृन्दमानन्दसद्म
ज्ञानाभावादपगुणमपि हेलनाद्यादकार्षीः ।
त्यक्तं भक्तं जनमिममथो मोदयस्यार्तिमाजं
नो वाचाऽपि प्रशमरुचिर ! धिक् ! कोऽयं विवेकः ? १७

हे नाथ ! त्वं 'अमुमतां' प्राणिनां वृन्दं हेलनाद्यात् 'आनन्दसद्म' हर्षपात्रमकार्षीः, किंरूपं वृन्दम् ? 'सत्रात्' यज्ञात् 'अत्र' पुरान्तः 'आहृतं' आनीतम्, पुनः कथंभूतम् ? ज्ञानाभावात् 'अपगुणमपि'

निर्गुणमपि । 'अथो' अनन्तरं त्वक्तं इमं 'भक्तं' सेवापरं 'इमं' मल्लक्षणं जनं 'अनिभाज' पीडायुक्तं वाचाऽपि वचनेनापि नो 'मोद-यसि' हर्षयसि । हे 'प्रसृमरकृप' प्रसृमरा प्रसरणशीला कृपा यस्य, हे 'छेक' निपुण ! तत्र को विवेक ?, अयमर्थ —वनवा-सादपरिचिताः स्वप्नज्ञानाभावान्निर्गुणान्तिर्यञ्चः क्लेशं संकटयित्वा प्रमोद्यन्ते, असौ निपुणो भक्तो निर्गुणः समोदवती आर्तो वचनेनापि न सन्तोष्यते,अयं को विचार ? इत्यर्थ । अत्र विशेषानुप्रासाः ॥१७॥

प्रागुद्वाहं स्वजनजनितेनाग्रहेणानुमेने
संचेरेऽन्तर्गुरुपरिजनं पीलुना चोपयन्तुम् ।
द्वारात्प्रत्यावृतदथ भवान् कुकदस्यापि शावो
गर्ध्येतैवं गुणगणनिधे ! नो चतुर्हायणोऽपि ॥ १८ ॥

हे नाथ ! भवान् प्राक् स्वजनजनितेनाऽऽग्रहेण 'उद्वाहं' विवाहं 'अनुमेने' अभ्युपगतवान्, अन्तर्गुरुपरिजनं 'पीलुना' हस्तिना 'उपयन्तुं' परिणेतुं 'संचेरे' चलति स्म, 'अथ' अनन्तरं कुकदस्यापि द्वारात् 'प्रत्यावृतत्' पश्चाद्वलति स्म, "सत्कृत्यालङ्कृतां कन्यां यो ददाति स कूकदः ।" (अभि० चिन्ता० ३–१३९) कूकदः श्वशुर इत्यर्थः । हे गुणगणनिधे ! एवं 'चतुर्हायणोऽपि' चतुर्वर्षीयोऽपि ('शावः') बालकः 'नो गर्ध्येत' नो वध्येत यथाहं वध्वितेत्यर्थः । संचेरे इत्यत्र "समस्तृतीयया" (सि० ३–३–३२) इत्यात्मने-पदम् । 'अन्तर्गुरुपरिजनं' गुरवः पूज्याः पित्रादिकाः परिजनः परिवारः तेषामन्तर् मध्ये "पारेमध्येऽग्रेऽन्तः षष्ठ्या वा" (सि० ३–१–३०) इति समासः । प्रत्यावृतदित्यत्र "द्युद्भ्योऽद्यतन्याम्" (सि० ३–३–४४) अनेनात्मनेपदनिषेधः । गर्ध्येतेति "गृधौच् अभि-काङ्क्षायाम्" गृध् । चत्वारि हायनानि यस्यासौ चतुर्हायणः "चतु-स्त्रेर्हायनस्य वयसि" (सि० २–३–७४) नस्य णत्वम् । अत्र द्वीपदानुप्रासाः ॥ १८ ॥

पित्र्यः सोऽयं तव मुररिपुः सुन्दरीणां सहस्रैः
लीलागारेऽनुपरततरः सन्ततं रंरमीति।
ऊरीकर्तुं क्षणमुदसहस्त्वं तु नैकामपीदृक्-
सामर्थ्येऽपि प्रकृतिमहतां कोऽथवा वेत्ति वृत्तम् ॥ १९ ॥

हे नाथ! अयं 'मुररिपुः' मुरारिः तव 'पित्र्यः' ज्येष्ठभ्राता 'सुन्दरीणां' स्त्रीणां सहस्रैः 'लीलागारे' क्रीडागारे 'सन्ततं' निरन्तरं 'रंरमीति' अत्यर्थं रमते, किंरूपः पित्र्यः? 'अनुपरततरः' अत्यर्थ-मनिवृत्तः। 'तु' पुनस्त्वं 'ईदृक्सामर्थ्येऽपि' ईदृक्समर्थत्वेऽपि सति एकामपि सुन्दरीं 'ऊरीकर्तुं' अङ्गीकर्तुं क्षणं न'उदसहः' उत्सहसे स्म। अथवा 'प्रकृतिमहतां' स्वभावगरिष्ठानां पुरुषाणां 'वृत्तं' चरित्रं को वेत्ति? अपि तु न कोऽपि वेत्ति। अथवा प्रकृष्टाः कृतिनो दक्षा-स्तेषु महताम्, एतावता अत्यन्तगाढतरचतुराणामत्यन्तचतुरत्वमपि लोकैः उपहासायेति व्यञ्जनम्। पितुस्तुल्यः पित्र्यः"वाय्वादेर्यः"(सि० ७-१-११४)इति यप्रत्ययः, "ऋतो रस्तद्धिते" (सि० १-२-२६) रः [redacted]। 'उदसहः' इत्यत्र "युजादेर्न वा" (सि० ३-४-१८) अनेन णिज्विकल्पः। अत्र विरोधार्थान्तरन्यासानुप्रासाः॥१९॥

श्रीमानर्हन्नितरजनवन्मन्मथस्य व्यथाभिः
किं वाध्येतेत्यखिलजनता मा रिरेकाम कामम्।
व्याख्यैवं चेत्तपसि रमसे तत्प्रतिज्ञाविलोपे
कस्तावत्र त्रिभुवनगुरो! रेकमाणां निषेद्धा? ॥ २० ॥

हे नाथ! त्वमेवं बुद्ध्वा (चेत्) तपसि रमसे, एवमिति किम्? वयं 'अखिलजनतां' समस्तजनसमुदायं 'कामं' अत्यर्थं इति 'मा रिरेकाम' शङ्कां नो कारयामः, इतीति किम्? श्रीमान् अर्हन् इतरजनवत् 'मन्मथस्य' कामस्य 'व्यथाभिः' पीडाभिः किं 'वाध्येत' पीड्येत?, यद्यहं पाणिग्रहणं करिष्यामि तदा सर्वे जनाः शङ्कां करिष्यन्ति यदर्हन्नोऽपि प्राकृतलोकवत् कामेन किं बाध्यते? अतः

न्यस्तेषु (समेति) मिलति स पात्रेसमितः कथ्यते, पात्रेसमिता पौरुषरहिता जनता तस्याः पङ्क्तुभीतेन यद्यहं कश्चित्पराक्रमं न कलयिष्यामि तदा लोको भोजनसमर्थानामेव जनानां पङ्क्तौ मां स्थापयिष्यतीति । अतो यदि त्वमेकान्तेन नीरागो वर्तसे तदा त्वया शस्त्रपूर्णं कृष्णबाहुमोटनं च कथं क्रियते स्म ?, यदि तत् पौरुषप्रकाशनार्थं कृतं तदा पाणिग्रहणमपि क्रियतामित्यर्थः । पात्रेसमित इत्यत्र "पात्रेसमितेत्यादयः" (सि० ३–१–९१) इत्यलुक्समासः । अत्र समासोक्तिसमुच्चयानुप्रासाः ॥ २१ ॥

मुग्धं स्निग्धं स्मितमतिजवं रिङ्गणं यत्र तत्र
प्रेक्षाचित्रं भुवि विलुठनं बन्धनं रिक्तमुष्टेः ।
उत्तानत्वे करचरणनं प्रोक्तमव्यक्तवर्णं
यानं पङ्क्त्यामनृजु शनकैर्यत्तदाकृष्टिकाह्वा ॥ २२ ॥
आहूतस्याभिमुखमुभयापाणि दूरेण यानं
कण्ठाश्लेषः प्रणयिनि हठात् स्थानमङ्के जनन्याः ।
कूर्चाकर्षः पितुरिति कुतः प्राकृतार्भानुरूपं
दिव्यज्ञानत्रितयकलितोऽचेष्टथाश्चेदरागः॥२३॥युग्मम्॥

हे नाथ! 'चेत्' यदि त्वं 'अरागः' वीतरागो वर्तसे तदा इति 'प्राकृतार्भानुरूपं' प्राकृताः सामान्या अर्भा बालकास्तेषामनुरूपं योग्यं यथा भवति दिव्यज्ञानत्रितयकलितः सन् त्वं कुतः 'अचेष्टथाः' चेष्टसे स्म ?, इतीति किम् ? 'मुग्धं' मनोज्ञं 'स्निग्धं' स्नेहयुक्तं 'स्मितं' हास्यम्, 'अतिजवं रिङ्गणं' अत्यन्तवेगं रिङ्गणं बालगत्या गमनम्, 'यत्र तत्र' अभिमुखे यस्मिन् तस्मिन् पदार्थे 'प्रेक्षाचित्रं' वीक्षणकौतुकम्, 'भुवि विलुठनं' पृथिव्यां लोटनम्, 'रिक्तमुष्टेः' अन्तर्वस्तुविकलाया मुष्टेर्बन्धनम्, 'उत्तानत्वे' उत्तानभावे 'करचरणनं' करचरणयोः क्षेपणम्, अव्यक्तवर्णं 'प्रोक्तं' जल्पनम्, पङ्क्त्यां 'अनृजु' वक्रं 'शनकैः' मन्दं मन्दं 'यानं' गमनम्, 'यत्तदाकृष्टिकाह्वा'

यत्तद्वस्त्राकर्षणवाञ्छा, 'उभयापाणि अभिमुखमागतस्य दूरेण यानं' उभयाभ्यां पाणिभ्यां सम्मुखमागतस्य दूरे गमनम्, 'प्रणयिनि' स्निग्धे जने हठात् 'कण्ठाश्लेषः' कण्ठे विलगनम्, जनन्या 'अङ्के' उत्सङ्गे स्थानम्, पितुः 'कूर्चाकर्षः' स्पष्टम् । अत्र करचरणनं करचरणौ निरस्यति "अङ्गान्निरसने णिङ्" (सि० ३-४-३८) णिङ्प्रत्ययः, "त्र्यन्त्यस्वरादेः" (सि० ७-४-४३) अन्त्यस्वरलोपः, करचरण्यते स्म करचरणनम्, क्लीबे "अनट्" (सि० ५-३-१२४) अनट्प्रत्ययः, "णेरनिटि" (सि० ४-३-८३) णिङ्लोपः । उभयाभ्यां पाणिभ्यां उभयापाणि "द्विदण्ड्यादिः" (सि० ७-३-७५) णिच्प्रत्ययः, उभयापाणि इति निपातः । अत्र जातिसमुच्चयसमासोक्त्यनुप्रासाद्याः ॥ २२ ॥ २३ ॥

एतत्सर्वं गुरुजनमनोमोदनार्थं यदि त्वं
तत्त्वं विन्दुः स्वयमकुटिलं स्वीचकर्थ प्रकामम् ।
इत्थङ्कारं कतिचन समा मन्मुदे दारकर्म
स्वीकृत्यैतत् किमुपजरसं नो तपस्तप्यसे स्म ॥ २४ ॥

हे नाथ ! यदि त्वं 'एतत्सर्वं' पूर्वकाव्यद्वयोक्तं बालक्रीडाकारणकलापं 'गुरुजनमनोमोदनार्थं' गुरवः पितृमात्राद्यो गुरुजनाः तेषां मनोहर्षार्थं 'स्वयम्' आत्मना 'अकुटिलं' सरलं यथा भवति 'प्रकामं' अत्यर्थं 'स्वीचकर्थ' अङ्गीकृतवान् । किंविशिष्टस्त्वम् ? 'तत्त्वं विन्दुः' परमार्थं विदन् 'इत्थङ्कारं' त्वं इत्थं अनेन प्रकारेण कृत्वा 'कतिचन समाः' कतिचन वर्षाणि 'मन्मुदे' मम हर्षाय 'दारकर्म' विवाहं स्वीकृत्य 'उपजरसं' जरायाः समीपे एतत्तपः किं न तप्यसे स्म ? । अयं भावः—यथा त्वया विवादिका बालक्रीडा गुरुजनहर्षाय कृता एवं मम हर्षाय पाणिग्रहणं कृत्वा पश्चाद्यदि तपस्तप्स्यसे स्यात्तदा भव्यमकरिष्यः । विन्दुरिति "विदक् ज्ञाने" विद् वेत्तीति विन्दुः "विन्द्विच्छू" (सि० ५-२-३४) उप्रत्यये विन्दुरिति निपातः ।

अस्तं स्वं चकर्थ स्वीचकर्थ "कृभ्वस्तिभ्यां कर्मकर्तृभ्यां प्रागततत्त्वे च्विः" (सि० ७-२-१२६) च्विप्रत्ययः, "अप्रयोगीत्" (सि० १-१-३७) च्विलोपः, "ईश्चाववर्णस्यानव्ययस्य" (सि० ४-३-१११) ईकारः, कृधातोः परोक्षा-थवि चकर्थेति । इत्थंकारमिति इदं अनेन प्रकारेण इत्थम् "कथमित्थं" (सि० ७-२-१०३) इति इत्थं निपातः, इत्थं कृत्वा इत्थङ्कारम्, "अन्यथैवंकथमित्थमः कृगोऽनर्थकात्" (सि० ५-४-५०) णम्प्रत्ययः, "ञ्णिति" (सि० ४-३-५१) वृद्धिः । उपजरसं जरायाः समीपे उपजरसम् "जराया जरस् च" (सि० ७-३-९२), "समासान्तः" (सि० ७-३-६९) अत्प्रत्ययः, जरास्थाने जरस् आदेशः, सप्तमी ङिः "सप्तम्या वा" (सि० ३-२-४) इति अम् । तप्यसे स्म इति "तपेस्तपःकर्मकात्" (सि० ३-४-८५) इतिसूत्रेण कर्तरि क्यप्रत्यय आत्मनेपदं च । अत्रानुप्रासस्मायाः ॥२४॥

त्रैलोक्येशः प्रथितमहिमा चारुचक्षुष्यरूप-
　स्तुल्योन्मीलद्गुणविकलया जातु मा मीमिले स्म ।
एवं पृष्ट्वा तपसि वदसे यत्कृते मुक्तिकान्तां
　तां मन्येथा अपगुणतया दर्शनस्याप्यनर्हाम् ॥ २५ ॥

हे नाथ ! त्वं एवं पृष्ट्वा यत्कृते तपसि 'वदसे' यत्नं कुरुषे यस्या मुक्तेः कृते, एवमिति किम् ? अहमनया 'जातु' कदाचित् त्वं 'मा मीमिले' मा इति निषेधे न मेलयामीत्यर्थः। किंविशिष्टोऽहम् ? 'त्रैलोक्येशः प्रथितमहिमा' इति स्पष्टम्, पुनः किंरूपोऽहम् ? चारु मनोज्ञं चक्षुष्यं सुभगं रूपं यस्य सः । किंरूपयाऽनया ? 'तुल्योन्मीलद्गुणविकलया' तुल्या अधिकारादात्मनः सदृशा उन्मीलन्तो विकसन्तो ये गुणास्तैर्विकलया रहितया असौ मम गुणैर्न तुल्येति मां मुक्त्वा यस्या मुक्तेः कृते तपसि वदसे 'तां' मुक्तिकान्तां 'अपगुणतया' निर्गुणतया दर्शनस्यापि 'अनर्हां' अयोग्यां मन्येथाः, सा निर्गुणतया दृष्टुमप्ययोग्या ।

च्यवमाना पञ्चभद्रत्वमुद्रा यस्य सः, यो भद्राणां समुद्रः एतावता सर्वभद्राणां स्थानं भवति तस्य पञ्च भद्राणि कथं गलन्तीति विरोधः। अथ विरोधपरिहारमाह—त्वं भद्राम्भोनिधिरपि गलत्पञ्चभद्रत्वमुद्रः, पञ्चभद्रस्तु विप्लुतव्यसनीत्यर्थः, तस्य भावः पञ्चभद्रत्वं व्यसनित्वम्, गलन्ती पञ्चभद्रत्वमुद्रा यस्य सः, एतावता त्वं व्यसनी न वर्तसे निर्विकारोऽसीत्यर्थः। 'अथ' अनन्तरं यदि तव सर्वत्रैषा पुरोभागितैव युक्ता, "दोषैकदृक् पुरोभागी" (अभिधान० ३–४४) यो गुणान्मुक्त्वा केवलं परस्य दोषानेव पश्यति स पुरोभागी कथ्यते, अतस्त्वमपि स्त्रीषु गुणान्मुक्त्वा केवलान् दोषानेव पश्यसीत्यर्थः, अथवा तव सर्वत्र पुरोभागितैव अग्रेसरतैव युक्ता तदपि 'वै' निश्चितं 'सूरतानां' कृपालूनां 'शीर्षच्छेद्याः' वधार्हा अपि 'अवध्याः' अघात्याः। अयमर्थः—यद्यपि सदोषत्वेन दण्डयोग्याः स्मः तदापि दयालूनां वध्या न भवामः किन्तु अनुकम्प्या एव। पौंस्ने इति पुंसां समूहः पौंस्नम् "प्राग्वतः स्त्रीपुंसान्नञ्स्नञ्" (सि० ६–१–२५) स्नञ्प्रत्ययः, "वृद्धिः स्वरेष्वादेः" (सि० ७–४–१) वृद्धिः पौं, "पदस्य" (सि० २–१–८९) सलोपः, "शिड्हेऽनुस्वारः" (सि० १–३–४०) अनुस्वारः। शीर्षच्छेदमर्हन्ति शीर्षच्छेद्याः "शीर्षच्छेदाद् यो वा" (सि० ६–४–१६४) यप्रत्ययः, "अवर्णेवर्णस्य" (सि० ७–४–६८) अवर्णस्य लोपः। अत्र विरोधश्लेषाः॥ २७॥

कामः कामं विषमविशिखैरेष जेघ्रीयते यद्
यद्वा मन्युः परिभवभवो मां सपत्राकरोति।
निर्वीराऽसौ तदहमबलाऽऽसादिः पापतिश्चेद्
निर्थतन्याश्च्यतिपुर्णां रातिकां साचदा किम्?॥२८॥

हे नाथ! यद् एष कामः 'कामं' अत्यर्थं 'विषमविशिखैः'

स्निग्धकान्तेः 'जैनीयमे' अन्वयं दर्शय, 'बहु' अथवा 'परिषदः' पराभवोऽस्य 'मन्युः' क्रोधो मां 'वपयाकरोति' अन्तर्न्यं दृश्यते, यद् 'असौ' अहं 'केम्' यदि 'अमानदिः' अमर्षशीला नारी 'निर्ग-न्थ्यात्' अधेनतावस्थातः 'नवतिपुरुषी' नवतिपुरुषप्रमाणा न्यात्रिका 'पायतिः' पतनशीला स्यां तदा किं स्यात्?, एतावतात्मीयागस्त्यं अनेके स्यर्थः। किम्भूतम्? 'निर्दीर्घ' निम्ननिपुणा (तथा 'अवज्ञा' कलङ्किता) अयो मम तारा वर्त्तु पुलेति तदम्यम्। अत्र नपन्ना-यतीतीति परत्र अये इम् "नपनिन्पताद्दशिव्यथने" (सि० ७–२–११८) इत्प्रत्ययः। अमानदिः पायतिः इति "पदि मर्षणे" पद्, भाग्यादेः पः तः तद्, "पल्लृ पथे गतौ" पत्, एवं पुनः पुनर्वा पदते पततीति "व्यञ्जनादेरेकस्वराद् भृशाभीक्ष्ण्ये यङ् वा" (सि० ३–४–९) यङ्प्रत्ययः, "सन्यङश्च" (सि० ४–१–३) द्विः, "आगुणावन्यादेः" (सि० ४–१–४८) आ, मामद्यते पापत्यते इत्येवंशीला "वौ मासद्रिवापद्यावलिपापतिः" (सि० ५–२–३८) किप्रत्यये मामदिः पापतिरिति निपातः, न मामदिरमामदिः। निर्ग्रन्थ्यादिति ग्रैवन्यस्याभावो निर्ग्रन्थ्यम् "विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासम्प्रतिपश्चात्क्रमख्यातियु-गपत्सदृक्सम्पत्साकल्यान्तेऽव्ययम्" (सि० ३–१–३९) अनेन सूत्रेणाभावे निर्ग्रन्थ्यव्ययीभावः समासः, पञ्चमी तत्र "अम-व्ययीभावस्यातोऽपञ्चम्याः" (सि० ३–२–२) इत्यत्र पञ्चमी-वर्जनात् अमादेशो न। नवतिः पुरुषाः प्रमाणं यस्याः सा नवतिपुरुषी "हस्तिपुरुषाद्वाऽण्" (सि० ७–१–१४१) अण्प्रत्ययः, "मात्रा-ट्संशये लुप्" (सि० ७–१–१४३) अण्लोपः, "पुरुषाद्वा" (सि० २–४–२५) ङीप्रत्ययः। अत्रानुप्रासहेत्वतिशयोक्त्याद्याः॥ २८॥

कर्पूरं कर्पूरमिव निवसितं सदुकूलं दुकूलं
ग्लायं दायं नलिनमलिनं भूषणं भूषणं वा।

नो प्रत्यक्षानुमितिनिगम[illegible]प्रमाणैः
त्यागं कुर्वन् [illegible]
संस्कारेण स्मृतिमुपगतः [illegible] यावत्
निष्प्रामाण्या स्मृतिरिति [illegible] न दृष्टः ॥३१॥

हे नाथ ! [illegible] कि कुर्वन् ? स्मृतिः 'निष्प्रामाण्या [illegible] मा एतावता स्मरणमप्रमाणमिति । [illegible] स्मरणमप्रमाणं कथ्यते । यतस्तं [illegible] ज्ञानमप्रमाणम्, अन्यथान्यथान्यस्यानुभवनात् [illegible] यथा शुक्तिकाशकले कलधौतनिर्भासि ज्ञानमप्रमाणम् [illegible] स्वप्नज्ञानमपि न प्रमाणं कथयन्ति [illegible] — [illegible] भिन्ने वा, तथा कालान्तरेऽपि वा । [illegible] स्वप्नज्ञानस्य गोचरः ॥१॥ इति । [illegible] स्थापयन्ती तदक्षत्वं दूषयति, कथम् ? आह—नो [illegible] त्वमेव ! त्वं प्रत्यक्षानुमितिनिगमैः प्रमाणैः त्यागं कुर्वन् लक्ष्यमाणः तावत् 'उच्चैः' अतिशयेन मम 'असुखं' दुःखं 'नो अपुपः' न पुष्टवान्, एतावता किमुक्तं भवति ? यदा पाणिग्रहणार्थं तोरणमागत्य व्यावृत्तः तदा मया गवाक्षस्थितया प्रत्यक्षप्रमाणेन त्यागं कुर्वन् लक्षितः, यदा तु वादित्रेषु वाद्यमानेषु देवदानवमानववृन्दानुगम्यः प्रव्रज्यार्थे गिरिनारं गतस्तदाऽनुमानप्रमाणेन ज्ञातम्—अथाहं त्यक्तैव, यतो यो यो दीक्षाग्राही स स कान्तापरिहारकारी, निःसङ्गत्वात्, यथा वृषभादिः, दीक्षाग्राही चायम्, तस्मात्कान्तापरिहारकार्येवेत्यनुमानम्। अथ यदा सख्यादिपरिजनो वार्तां करोति श्रीनेमिना राजीमतीं परिहृत्य दीक्षा गृहीता तदाऽऽप्तवचनरूपेण प्रमाणेन त्यागं कुर्वन् लक्षितः । एतावता प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणैस्त्यागं कुर्वन् ज्ञायमानस्त्वं तादृग्दुःखं न दत्तवान्। अग्रेतनमाह—त्वं यावत् 'संस्कारेण

स्मृतिरुत्पद्यते, कथम्? 'क्लेशदेशाऽपि' संस्कारः पूर्वानुभवः तेन यदा स्मर्यते स्मृतेः संस्कारजन्यत्वात् यदा यावत् क्लेशदेशा क्लेशदशाऽपि, वियोगे (?) स्मर्यमाणः सन् पूर्वानुभवादपि गाढमन्तःशल्यवदुत्पद्यते, अतः स्मरणस्य कथमप्रामाण्यम्? अन्यप्रमाणेभ्यस्तस्य गाढतरदुःखसाध्यतानुभवसाधकत्वात्, अतः स्मरणं प्रमाणम्, स्मरणाद् दुःखानुभवसाधकत्वात्, प्रत्यक्षादिवत्। क्लेशदेशेति "दिशीर् अतिसर्जने" दिश्, देशं दिशतीत्येवंशीलः "सत्र शीलधर्मसाधुषु" (सि० ५-१-२.१) इति प्रत्ययः। अत्र हेतुरर्थापत्तिरनुमानानि ॥ २१ ॥

क्लेशाविष्टे प्रमुदितमतिर्दीर्घतृष्णे वितृष्णो
मूढे मूढेतरपरिवृढस्तापिते निर्वृतात्मा।
व्यक्तं हंस वससि हृदये चेदिरक्तो ममेशा-
ऽऽधाराधेये तदुपचरिते केन भेदेतरेण? ॥ २२ ॥

हे नाथ! 'तत्' तस्मात्कारणात् केन पुरुषेण आधाराधेये 'भेदेतरेण' अभेदेन उपचरिते?, एवम् उपचारेण आधाराधेययोरभेदं मन्यन्ते, यथा—मञ्चाः क्रोशन्ति, अत्र मञ्चानां क्रोशनं न संभवति अचेतनत्वात्, परं मञ्चोपविष्टाः पुरुषाः क्रोशन्ति, उपचारेण पुरुषैः सह मञ्चानामभेदं विवक्ष्य मञ्चाः क्रोशन्तीत्युच्यते, राजीमती तद्दूषयति—यद् आधाराधेययोरुपचारेणापि अभेदो न युक्तः किन्तु भेद एव, कस्मात्? तदाह—हे 'हंस' स्वामिन्! 'चेत्' यदि त्वं मम हृदये वससि, कथं हृदयस्य भगवतश्च विरोधपर्यायस्यमाह—किंरूपे मम हृदये? 'क्लेशाविष्टे' क्लेशैः दुःखैराविष्टे व्याप्ते। किंरूपस्त्वम्, 'प्रमुदितमतिः' प्रमुदिता प्रकर्षेण मुदिता हर्षमयी मतिः बुद्धिर्यस्य सः। पुनः कथंभूते हृदये? 'दीर्घतृष्णे' दीर्घा अत्यन्तप्रौढा तृष्णा विषयवाञ्छा यस्मिंस्तत् (तस्मिन्) त्वं तु 'वितृष्णः' विगता तृष्णा यस्यासौ, सर्वथाऽपि सांसारिकभोगादिवाञ्छाविरहितत्वात्। पुनः कथंभूते हृदये?

अजात्वेऽपि ना [illegible] मूलत [illegible] । अथ मुख्यार्थः—हे अम
मम इति आशा आसीत् [illegible] नव [illegible] महिषी' कृता
येका राज्ञी 'वनिष्ये' भविष्यामि नु पुनरद 'विधिना' वै
'श्यामा' अप्रसुता स्त्री अकृपि कृता, किम्भूता ? 'उपोत्सङ्गे
इयामम् गर्भिचन उत्प्रदोषा, गर्भपक्षे तत्र प्रबलः प्रदोषो
यस्याः सा ''प्रदोषो यामिनीमुख (अभि० २-५८) द्वितीया
पूर्ववदुक्ताः प्रबला दोषा मायाद्या यस्याः सा, अपुत्रा हि
उत्तमकार्येषु नामे क्रियते । अथैव [illegible] यदि पुनर भवात्मर
मपि' सिद्धस्वरूपभावमर्थी [illegible] [illegible], [illegible]
हि तादृग् दृश्यते यादृशाज्ज सिद्धस्वरूपमपि लभ्ये भवता सर्व
त्यागात्, निष्पतिमुनाना वनिताना च [illegible]
सिद्धस्वोपलब्धेः । किं कृत्वा ? मूलान [illegible] कर्मप्रकृतिविकृत
सर्वतोऽपि सर्वप्रकारैरपि प्रकृति १ स्थिति २ अनुभाग ३ प्रदेश ४
लक्षणैरपि प्रकृत्य प्रकर्षेण छित्त्वा । तत्र मूलप्रकृतयो मुख्यभे
अष्टौ ज्ञानावरण १ दर्शनावरण २ वेदनीय ३ मोहनीया ४ आयु ५
नाम ६ गोत्रा ७ ऽन्तरायाऽ८ भिधाः । विकृतयस्तु भेदानामर्
भेदाः क्रमेण पञ्च–नव–द्वय–ष्टाविंशति–चतु–स्त्र्युत्तरशत–द्वि-
पञ्चसङ्ख्याः । प्रकृत्येति पूर्वे कृञ्धातोः प्रयोगः, प्रोपसर्गः प्रारम्भार्थः
द्वितीयपक्षे ''कृतैत् छेदने'' इति धातुः । अत्र श्लेषातिशयोक्तिभा
विकानुप्रासाद्याः । तत्र ''प्रत्यक्षा इव यद्भावाः, क्रियन्ते भूतभा
विनः । तद्भाविकम्'' ॥ ३४ ॥

यावज्जीवं मदुपहितहृज्जीवितेनः श्रयेन
प्रेम्णा पाल्यत्यमृतमपि मे चिन्तमासीत्पुरेति ।
प्रव्रज्यायाः पुनरभिलपंस्तन्मुखेनाशुचर्मा
ज्ञानश्रीयुक् तदथ कमितोन्मुच्य तां तन्मोऽस्तु ॥३५॥

हे आर्य ! मया इति 'पुरा' पूर्वं 'चिन्तं' विचारितमासीत्,

दर्शीति किम्? 'जीवितेशः' प्राणनाथो यावज्जीवं 'प्रेम्णा' स्नेहेन 'अमृतमपि' पानीयमपि मम 'हस्तेन' दत्तेन पास्यति, पिबिष्यति? 'मदुपहितमृत्' मयि उपहिते न्यस्तं हृत् हृदयं येनासौ। पुनः 'समयविधिः' दीक्षाया गुणैन 'तत्' अमृतम् अभिलषन् सन् माम् अनुपम, अमृतं स्वादयाचितम्, दीक्षाधारिणो हि अयाचितव्रता भवन्ति। 'अथ' अनन्तरं एवं 'ज्ञानश्रीयुक्' ज्ञानलक्ष्मीयुक्तः सन् 'तां' दीक्षागुणगुम्फ 'तत्' अमृतं कमिता अमृतं मोक्षं कमिता अभिलषिष्यति (पिता), अथो दीक्षायाः फलं मोक्षं कामयिष्यसे इत्यर्थः। यद्यपि "मोक्षे भवे च सर्वत्र, निःस्पृहो मुनिसत्तमः" इति वचनात् भगवतो मोक्षे प्रत्यपि कामो नास्ति तथापि मोक्षं प्रति प्रवृत्तत्वा-त्तत्कामो विवक्षितः। 'तत्' तस्मात्कारणात् ते तुभ्यं नमोऽस्तु, ईर्ष्यायां नमः, ईर्ष्याऽपि अनवस्थितत्वाभासज्ञापनात्। अत्र यथा-सङ्ख्यभाविकपर्यायोक्तदीपकव्याजस्तुतिश्लेषाः। अमृतं पानीय-मयाचितव्रतं मोक्षश्चेति श्लेषमूलम् ॥ ३५ ॥

> काष्ण्योत्पादात्स्वजनवदनेष्वानि वर्णस्य तुल्यं
> कृत्यं धाराम्रततिनिकरोत्कर्तनाद्वाय ! नाथः।
> अर्थादर्थान्तरमभियता द्राग्यया चान्यथत्वा-
> त्सत्कर्मभ्रमथसमये कारि मा मातुरित्थम् ॥ ३६ ॥

हे नाथ! त्वया स्वजनवदने काष्ण्योत्पादात् वर्णस्य तुल्यं कृत्य-मनानि, कृष्णस्य भावः काष्ण्यं कालिमा स्वजनमुखे यद् उत्पाद-यता यादृशो निजो वर्णः शरीरस्थः कृष्णलक्षणस्य 'तुल्यं' समानं 'कृत्यं' कार्यं अतानि विस्तारयामासे, एतावता स्वजनमुखानि दुःखेन कृष्णवर्णानि कृतानीत्यर्थः। 'च' अन्यत् हे नाथ! यथा त्वया आशाम्रततिनिकरोत्कर्तनात् नाथस्तुल्यं कृत्यमतानि। अत्र संदेश-कथनप्रस्तावात् राजीमती स्वाः एवाशाः विवक्षते, अहं नाथं परिणेष्यामि भोगान् भोक्ष्ये पट्टराज्ञी भविष्यामि इति आशा वा-

न्त्याः" इति न्यायात् "तृतीयस्तृतीयचतुर्थे" (सि० १-३-४९) स् त्, ततः संयोगः, "म्रां धुड्वर्गेऽन्त्योऽपदान्ते" (सि० १-३-३९) त न इति सिद्धम् । अत्रानुमानाक्षेपोदात्तरूपकाद्याः ॥ ३९ ॥

रागाम्भोधौ ललितललनाचाटुवाग्भङ्गिभिर्यः
　संप्लाव्येत प्रतनुगरिमा स क्षमाभृद्गणोऽन्यः ।
औन्नत्यं तत्तदचलगुरुश्चैष माध्यस्थ्यमीशो
　धत्ते येन स्फुटवपुममुं स्प्रष्टुमप्यक्षमास्ताः ॥ ४० ॥

हे सखि ! स 'क्षमाभृद्गणः' क्षमाभृतां ऋषीणां गणः समूहोऽन्यः यो 'रागाम्भोधौ' रागसमुद्रे 'ललितललनाचाटुवाग्भङ्गिभिः संप्लाव्येत' ललिताः सुकोमला ललनानां स्त्रीणां याश्चाटुरूपा वाचस्ता एव भङ्गयः कल्लोलास्तैः (ताभिः) सं सामस्त्येन प्लाव्येत स क्षमाभृद्गणोऽन्यः परः, किंरूपः ? 'प्रतनुगरिमा' प्रतनुः तुच्छः गरिमा गुरुत्वं यस्य सः, एतावता यः साधुगणः स्त्रीणां चाटुवचनैर्भिद्यते स तुच्छधर्मस्थैर्यादिगुणगौरववान्, अयं नेमिस्तन्मध्ये न भवतीत्यर्थः । अथ तस्मादन्यतुच्छसाधुविलक्षणं भगवतः स्वरूपमाहुः—'च' अन्यत् एषः 'ईशः' स्वामी ततः सर्वलोकप्रसिद्धं 'औन्नत्यं' परमध्यानधैर्यादिगुणोच्छ्रितत्वं तत् 'माध्यस्थ्यं' च रागद्वेषरहितत्वं धत्ते । किंरूपो भगवान् ? 'अचलगुरुः' अचला ये महाव्रतादिपालने धीरास्तेषां गुरुः । 'येन' औन्नत्येन माध्यस्थ्येन च 'ताः' ललितललनाचाटुवाग्भङ्गयः 'अमुं' भगवन्तं स्प्रष्टुमपि 'अक्षमाः' असमर्थाः, एतावता ताभिर्भेदनमस्य दूरेऽस्तु ताः स्त्रीचाटुवाचो मनस्यपि नायान्तीत्यर्थः । किंविशिष्टममुम् ? 'स्फुटवपुं' स्फुटतेजसम् । अथ द्वितीयः श्लिष्टोऽर्थः—यः क्षमाभृतां पर्वतानां गणः समूहः समुद्रकल्लोलैराप्लाव्यते आव्रियते स प्रतनुगरिमा तुच्छोच्चत्वः अन्यः, यस्य शिखरोपरि कल्लोला वहित्वा यान्ति सोऽन्य इतरः, एष भगवान् 'अचलगुरुः, अचलानां पर्वतानां गुरुः मेरुः,

[अथ प्रशस्तिः]

तथा च—

सर्वव्याकरणप्रमाणपटवो न्यायस्फुरत्तर्किका-
निष्णाता गुरवोऽभवन्न तु कृतिस्तेषां हि मिथ्या भवेत् ।
एष प्रत्यय एव मेऽस्ति सुचिरं तेषां पदाम्बुजद्वयी-
सेवातो बहुलप्रयोगरचनास्पष्टोपयोगस्पृशाम् ॥ १ ॥

अन्येषां मतिमूढतापहृतये व्याख्यामधीतां गुरून्
तेषामेव तथा विचार्य विबुधैः सार्धं प्रयत्नेन च ।
स्पष्टार्था लिखिता व्यधीयत परावर्तः प्रयोगेषु यत्
क्वापि क्वापि तदस्तु मा गुरुवचश्चर्चाव्यलीकं मम ॥ २ ॥

व्याख्याऽलेखि मया मुधाऽत्र खलु या शोध्यैव सा सद्बुधै-
र्व्यङ्ग्यानि प्रकटीकृतान्यनुपदं गूढानि नो यान्यपि ।
ज्ञेयानि स्वयमेव तान्यनलसैः स्पष्टं परेषामपि
ज्ञाप्यानि प्रकटोपकारकृतये प्राज्ञावतारैर्भुवि ॥ ३ ॥

वर्षे चन्द्रनिधानपूर्वकलिते १४९१ श्रीविक्रमार्कात्तथा
चैत्रान्तर्वदिपञ्चमीबुधदिने श्रेष्ठाऽनुराधायुते ।
श्रीजैनोज्ज्वलमेघदूतसुमहत्काव्यस्य पूर्णाऽभवत्
टीका श्रीअणहिल्लपाटक इति ख्याते क्षितौ पत्तने ॥४॥

पूज्यश्रीगुरुमेरुतुङ्गगणभृद्धुर्यैर्मतं लम्भितः
श्रीमच्छ्रीजयकीर्तिसूरिगुरुभिस्तत्पट्टलब्धोदयैः ।
वात्सल्यात्परिपाठितश्च कृतवान् श्रीकाव्यटीकामिमा-
माचार्यः किल **शीलरत्न** वदितां स्वाल्पबुद्धेर्मिताम् ॥५॥

एतस्याः किल वृत्तेः, श्रीमन्**माणिक्यसुन्दरा**चार्याः ।
विदधुः शोधनमवहित-मतयो बहुसमयतत्त्वज्ञाः ॥ ६ ॥
